हिंदी साहित्य : एक रेखा-चित्र

लेखक

प्रो० शिवचंद्र प्रताप, एम० ए०

जिनके वात्सल्य-स्नेह में भींग कर मेरा साहित्य-प्रेम
पल्लवित हो उठा, अपने उन्हीं गुरुदेव
प्राचार्य 'कपिल' को इन शब्दों
के साथ सादर—

"त्वतीय वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये"

विषय-सूची

भूमिका के नाम पर

इतिहास के पाषाणी शिखरों को मैंने चाँदनी में देखा है—हृदय की आँखों से। इसलिए खंड की बारीकियों के प्रति विशेष आग्रह नहीं। संपूर्ण की महिमा को उभार कर रखने की कोशिश मैंने जरूर की है। रेखाएँ कहीं भी ओझल नहीं, धूमिल नहीं—हर शिखर का स्वरूप स्पष्ट है।

तथ्यों को भरसक विकृत नहीं होने दिया है; उन्हें चित्रों में ढाल देने की कोशिश भर की है। इसे हिंदी-साहित्य का रेखाचित्र कह लीजिए। हाँ, भावुकता में भींग कर रेखाएँ जरा रंगीन हो उठी हैं। जाने-अनजाने उन्हें सरस बना डालने का अपराध मैं कर बैठा हूँ। पर, अपराध खूबसूरत है, मौलिक भी। शायद आपको भा जाए। पर, साहित्य के इतिहास को सूखा शास्त्र बना डालनेवाले ज्ञानी क्या क्षमा कर सकेंगे?

कविता, कहानी, शब्दचित्र, नाटक और आलोचना—इन सब में थोड़ी-बहुत रुचि रही है। इसीलिए इतिहास लिखने को जब मेरे आलोचक ने कलम उठाई; कविता और कहानी मान कर बैठीं, शब्दचित्र और नाटक मचल उठे। मैं किस-किस को रोकता? सभी समा गए और उनके सुखद समन्वय से रंगों और रसों का एक मोहक इंद्रजाल-सा तैयार हो गया।

पर, साहित्य को मैं मात्र मनोरंजन की सामग्री नहीं मानता। वह कुरूपताओं के खिलाफ संघर्ष करनेवाले मानव के हाथ का सबसे बड़ा अस्त्र है। जन-कल्याण के साथ जहाँ-कहीं उसने गद्दारी की है; मुझे शर्म आई है! दृष्टिकोण की इस लाचारी के कारण ही मेरी तटस्थता खंडित हो गई है। पर, अपनी इस लाचारी पर मुझे अफसोस नहीं।

हिंदी-साहित्य के इतिहास बहुत लिखे गए, बहुत लिखे जायँगे। फिर भी मुझे लगता है, इसकी जरूरत थी। आज हिंदी सारे राष्ट्र की संपत्ति है। उस पर सबका अधिकार है। उसका प्रसाद उन सब तक पहुँचना चाहिए, जो इस देश के नागरिक हैं और हिंदी के बारे में जानना चाहते हैं। पर, मेरे कुछ अहिंदी-भाषी मित्रों की शिकायत है कि अब तक उन्हें हिंदी-साहित्य का एक भी ऐसा इतिहास न मिल सका, जिसे पढ़ते नींद न आने लगे। उनसे आग्रह है, वे एकबार यह 'रेखाचित्र' भी देखें; मैंने सत्य के देवता को सुंदर बनाकर प्रतिष्ठित करने का विनम्र प्रयास किया है। हर काल के अंत में उसका सारांश देकर विषय को भरसक सहज और स्मृति-सुलभ बना डालने की चेष्टा भी की है। आशा है, उन्हें निराशा न होगी। शिकायत कुछ दूर हो सकी, तो परिश्रम को पुरस्कृत मानूँगा।

काफी अर्सा हुआ, पुस्तक के कुछ पृष्ठ लिखे गए थे—तब मैं जी० डी० कॉलेज (बेगूराय) की सेवा में था। पर, उस कॉलेज की सेवा से वंचित होने पर घर भी छोड़ना पड़ा और खानाबदोशों की जिंदगी मंजूर करनी पड़ी। तब से लगातार घूमता-भटकता फिरा हूँ—बिहार से बंगाल और बंगाल से उड़ीसा। अतः, पुस्तक के कुछ अंश "वेटिंग-रूम" और रेल के डब्बों में लिखे गए; कुछ होटलों और धर्मशालाओं में। पर, बंगाल और उड़ीसा ने छाया न दी होती, तो अब भी पुस्तक आपकी सेवा में आ सकती, इसमें संदेह है।

जिन परिस्थितियों में इसे लिख डालना पड़ा, उनमें काफी त्रुटियों का रह जाना अस्वाभाविक नहीं। पर, त्रुटियों के लिए क्षमा नहीं चाहता। स्वस्थ समालोचना, जो राह दिखा सके, सर आँखों पर।

अपने अग्रज-तुल्य मदन बाबू और श्रद्धेय श्री सुरेश्वर पाठक की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन को ही मैंने रूप देने की कोशिश की है। अतः यदि इसमें कुछ सार्थक और सुंदर है, तो उन्हीं के कारण।

डा० रामखेलावन पांडेय और प्राचार्य कपिल—मेरे इन पूज्य आचार्यों ने कार्य-व्यस्त रहते हुए भी पुस्तक के कुछ अंशों को सुन और सराहकर मुझे प्रोत्साहित किया है। पर, स्नेह का प्रतिदान क्या दिया जा सकता है?

भाई अखिल की प्रशंसा और आलोचना से भी मैंने लाभ उठाया है। प्रूफ देख कर उसने पुस्तक को अधिक त्रुटिपूर्ण होने से बचा लिया है। पर, धन्यवाद से तौल कर अपने अभिन्न के स्नेह और आत्मीयता का गौरव कम करना नहीं चाहता।

भाई घनश्याम के तकाजों ने आखिर मुझसे लिखवा ही लिया, पर श्रीमती प्रताप ने इतनी सुविधाएँ न दी होतीं, तो इन सारी बातों के बावजूद किसी तरह पुस्तक का लिखा जाना क्या संभव था?

अंत में, जिन विद्वान् लेखकों के ग्रंथों से मैंने सहायता ली है, उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

न जाने कितने ज्ञात और अज्ञात ग्रंथकारों के नाम छूट गए होंगे। उनसे क्षमा चाहता हूँ।

ग्रंथों और ग्रंथकारों की फाइल यह है भी नहीं। यह तो युगों और प्रवृत्तियों की तस्वीरों का एक अलबम है। तस्वीरें सुसंबद्ध और आकर्षक भी हैं या नहीं, आप खुद देख लीजिए।

कटक (उड़ीसा)
२२ सितंबर, १९५५

शिवचंद्र प्रताप

साहित्य का इतिहास ग्रंथों और ग्रंथकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह काल-स्रोत में बहे आते हुए जीवंत सामाज की विकास-कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ उस प्राण-धारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं।

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

★

अब तो सहज-शिक्षा, प्रसन्न-शिक्षा के प्रयत्न चल रहे हैं। साहित्य आनंद द्वारा शिक्षा देने का साधन ही तो है। बड़ी-से-बड़ी वैज्ञानिक बातें खेल-खेल में सिखाई जा रही हैं। ऊँची बातें जब अपने-आप में ही दुर्लभ होती हैं, तब शैली के दोष से उन्हें और दुर्लभ बनाना तो अपराध करना होगा।

—जैनेन्द्र कुमार

सुबह होती है

[सिद्ध युग]

बहुजन हिताय !
बहुजन सुखाय !!

(सिद्ध-साहित्य)

ईसा के पाँच सौ साल पहले ।

*   *   *

बहुजन हिताय !

बहुजन सुखाय !!........

भगवान बुद्ध का शांति-संगीत गूँज उठा—ग्राम-ग्राम में, नगर-डगर में। संगीत गूँजता रहा, भगवान अंतर्ध्यान हो गए।

फिर आई ईसा की पहली शताब्दी।

विभाजक रेखाएँ और छोटी-छोटी परिधियाँ खींची जाने लगीं। दो मत हो गए; दो पथ हो गए—हीनयान और महायान। एक ने कहा—ज्ञानार्जन, पांडित्य और साधना का मार्ग ही निर्वाण का मार्ग है। दूसरा बोल उठा—"भई! साधना का बोझ लाद कर चलने में बुद्धिमानी नहीं। हम तो तथागत के सच्चे अनुयायी हैं; लोक-जीवन को आत्मसात कर चलेंगे।

स्वभावतः हीनयान उपेक्षित रह गया, पीछे छूट गया। महायान के पीछे जनता की अपार सेना चल पड़ी।

काल के पथ पर बौद्धधर्म के दोनों यान अपनी-अपनी गति में चलते रहे और एक-एक कर सात सौ साल बीत गए।

आठवीं शताब्दी ने अँगड़ाई ली। कोलाहल छा गया। धरती से आकाश तक वज्र-ध्वनि-सी गूँज उठी। यानवालों ने सहमी हुई आँखों से देखा—सामने दो-दो पर्वत खड़े थे—विशाल आकृतियाँ, जलती हुई आँखें, ललाट पर त्रिपुंड, कंधे से कमर तक झूलते हुए यज्ञोपवीत और पैरों में खड़ाऊँ। ये थे स्वामी शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट।

बौद्धधर्म के यान वैदिक धर्म के इन पर्वतों से आ टकराए। बौद्धों और ब्राह्मणों में होड़ मच गई। तर्क का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। यान चकनाचूर हो गए। पर्वत डोले भी नहीं।

महायान के पीछे-पीछे चलनेवाली जनता की सेना भाग खड़ी हुई। बौद्ध भी, जो भाग सके, भाग चले—तिब्बत, नेपाल, बंगाल, दक्षिण भारत की ओर। जो नहीं भाग सके उन्होंने शंकर के शैव-मत से संधि कर ली। पर, संधि कभी-कभी पराजय का पर्याय बन जाती है।

बौद्ध भ्रष्ट हो गए, विनष्ट न हुए। झुक गए, टूटे नहीं। शंकर के शैवमत से मंत्र-तंत्र, योग-समाधि, डाकिनी-शाकिनी आदि ले-ले कर महायान मंत्रयान बन गया।

पर, जब आठवीं शताब्दी की साँझ विदा होने लगी, मंत्रयान अंधकार के गर्त में डूब चला। मीन, मांस, मद्य और मैथुन तक ने उसमें प्रवेश पा लिया। जिस नारी को गौतम ने मुक्ति-मार्ग की बाधा कहा था, उसी को उनके अनुयायी, मुक्ति का साधन मान कर, साथ लिए डोलने लगे। यह और एक कदम नीचे की अवस्था थी, जिसे इतिहास ने वज्रयान कहकर पुकारा।

इन वज्रयानी साधकों की टोलियाँ आंध्र की राजधानी पैठन, धन्य-कटक और श्रीपर्वत से होती हुई नालंदा और विक्रमशिला जा पहुँची।

"बहुजन हिताय ! बहुजन सुखाय !!" की अमृत-ध्वनि से नालंदा और विक्रम शिला के शून्य जनपथ भी एक बार मुखरित हो उठे। तथागत के इस प्रदेश में आकर वज्रयानियों को जैसे अपना खोया हुआ ज्ञान मिल गया। वे सिद्ध हो गए।

पर, भगवान बुद्ध की तरह वे पूरे निरीश्वरवादी बने न रह सके। उन्हें लगा, ईश्वर या ईश्वर-जैसी कोई सत्ता कहीं जरूर है।

गुरु का महत्त्व भी उन्होंने माना। उसके बिना गंतव्य तक पहुँच पाना कैसे संभव हो सकेगा ? राह कितनी कठिन है ! पग-पग पर माया की बिछलन, कदम-कदम पर काँटे ! पर शर्त है; गुरु योग्य होना चाहिए। अंधा अंधे को कूएँ से निकालेगा तो क्या, ख़ुद भी गिर जायगा—

जाव ण आप जणिज्जई,
ताप ण शिष्य करेई।

अंधा अंध कढ़ाव तिमि
वेण्ण वि कूप पड़ेई ।

पर, पहचान कठिन है। आडंबर का मोटा लबादा ओढ़ कर हर मूर्ख पंडित बना बैठा है । सिद्धों ने कहा, इनसे बच कर चलने की जरूरत है। भरपूर खबर ली उनकी—

पंडित सअल सत बखानई,
देहइ बुद्ध बसंत न जानीउ;
अवणागमण ण तेज बिखडिउ,
तोवि निलज्ज भणइ हौं पंडिउ ।

अर्थात् पंडित समूल सत्य का बखान तो करता है, पर बुद्ध की स्थिति तक नहीं पहुँचा सकता। अपने तेज से वह आवागमन के बंधन को खंडित नहीं कर सकता है। फिर भी, निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है।

दुनिया के दुःख को देखकर इन सिद्धों के अंतर से करुणा की मंदाकिनी फूट निकली। संसार को त्यागने की सीख देनेवालों को उन्होंने डाँटा। कहा—संसार दुःखों से भरा है, इसीलिए तो उसे अपनाने की जरूरत है। संसार के दुःख संसार के प्रयोग से ही दूर हो सकते हैं ; जैसे विष, विष के प्रयोग से ।—

जिमि विस भक्खइ विसहि पलुत्ता,
तिमि भव भुञ्जइ भवहि न जुत्ता ।

उन्होंने कहा, भोगों से भागने की जरूरत नहीं। चाहिए तो यह कि मनुष्य में संसार के सारे भोग समा जायँ और वह विचलित न हो। सागर में कितनी नदियाँ समा जाती हैं, पर वह विचलित कहाँ होता है ?

और, नारी से घबराना तो सबसे बड़ी कायरता है। पानी कहीं नमक से डरता है ? वह तो उसे घुला कर आत्मसात कर लेता है ! साधक को चाहिए कि नारी को वैसे ही आत्मसात कर ले—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएँहि,
तिमि धरणी लइ चित्त।

त्याग भी नहीं, आसक्ति भी नहीं—दोनों के बीच का मार्ग था उनका—सहज साधना का मार्ग। संसार की प्रयोगशाला में बैठकर सत्य की खोज—यही तो कबीर ने भी किया !

तब समाज की हालत बड़ी बुरी थी—असंख्य जातियाँ, असंख्य वर्ण। ब्राह्मण अपने आगे किसी को गिनते ही न थे। शूद्र उनके दंभ की चक्की में पिसे जा रहे थे। सिद्धों से रहा न गया। दंभ, घृणा और विद्वेष के स्तूपों पर उनकी वाणियाँ वज्र बन-बन कर गिरने लगीं। भगदड़-सी मच गई।

वह सिद्धों की मंडली नहीं, क्रांतिकारियों की सेना थी। उसमें सभी वर्ग के, सभी वर्ण के लोग थे—राजा, रानी और राजकुमारी; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; दर्जी और धोबी से लेकर डोम और चमार तक।

उनके भावों और विचारों में दहकते अंगारों से भी अधिक दाह है, अमृत से भी अधिक जीवनी-शक्ति! पर भाव और भाषा—बिजली के ये दो तार जब तक ठीक से जुड़ते नहीं, प्रकाश की किरणें नहीं फूटतीं। उनके छंदों से प्रकाश की किरणें फूटीं, क्योंकि उन्होंने जो भी कहा, जनता के लिए कहा, जनता की भाषा में कहा।

उनकी भाषा "संध्या-भाषा" थी। विद्वानों ने "संध्या" शब्द के अनेक अर्थ किए। किसी ने कहा—उसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'अभिप्रेत' शब्द से हुई है; वह अभिप्राययुक्त भाषा है। किसी ने कहा—उस समय अपभ्रंश का दिनमान ढल रहा था, हिंदी अँगड़ाई ले रही थी। वह दोनों के बीच की चीज है—संध्याकाल की भाषा। कुछ विद्वान् उसे बिहार में आज भी बोली जानेवाली मगही का ही प्राचीनतम रूप मानते हैं।

प्रतीकों और उलटवासियों के प्रयोग सिद्धों ने खुलकर किए, जैसे, आगे चलकर कबीर आदि ने।

हजार वर्ष से ज्यादा हुए। उस दिन सरहपाद को पाकर नालंदा की धरती धन्य हो गई। उस दिन हिंदी के आँगन में सोने की सुबह मुस्कुरा उठी। सिद्ध-साहित्य के प्रथम कवि होने के नाते वे हिंदी के पहले कवि थे। वे बहुत दिनों तक नालंदा में रहे, फिर एक शर बनानेवाली कन्या को जोगिनी बनाकर जंगल चले गए।

उस पथ पर न जाने और कितने चरण गतिशील हो उठे होंगे। पर अब तक लुइपा, भुसुकपा, डोंबीपा आदि चौरासी सिद्धों के

नाम ही अपने युग की सीमा को लाँघ कर अपने युग तक पहुँच सके हैं।

आज हिंदी के जन्म देनेवाले उन सिद्धों और हम हिंदी-भाषियों के बीच समय का कितना बड़ा व्यवधान खड़ा है! हम उन्हें देख नहीं सकते, उनसे बातें नहीं कर सकते। पर, उनकी अमर वाणियाँ आज भी नालंदा और विक्रमशिला के खंडहरों से उठ-उठ कर आकाश में गूँज रही हैं। आज भी उन खंडहरों के भग्न हृदय से करुण संगीत निःसृत हो रहा है—

बहुजन हिताय !
बहुजन सुखाय !!

*

अहिंसा परमोधर्मः

(जैन-साहित्य)

पटना जिले का पावापुरी गाँव। चारों ओर दूर-दूर तक फैले धनखेतों में फसल झूम रही। जन-कोलाहल से दूर उस हरियाली में सरोवर ढलमल कर रहा, जैसे तरल दर्पण। काँपती-सिहरती जल-राशि में संगमर्मर का मंदिर—मानो, सरोवर का मन मूर्त्त हो उठा हो।

किनारे-किनारे मंदिर, चारों ओर मंदिर। अगरु का धुआँ, फूलों की महँक, घंटों का मंद्र घोष। सामूहिक गान की लहरी घनीभूत हो-होकर वातावरण में बिखर-बिखर जा रही है।

यहीं वर्द्धमान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था। आज भी लोग दूर-दूर से यहाँ की धूल सर पर चढ़ाने आया करते हैं।

इस मिट्टी में राष्ट्र और राष्ट्रभाषा का गौरवमय अतीत सो रहा है। हिंदी को जन्म देने का श्रेय नालंदा, विक्रमशिला और उनके चौरासी सिद्धों को ही नहीं, पावापुरी और उसके असंख्य जैन कवियों को भी है।

इसकी मिट्टी में अपनी कल्पना को एकबार झाँकने दीजिए, इतिहास झलमल कर उठेगा।

*   *   *

लीजिए, यह मौर्यों का युग है। अब देखिए, यह कौन आ खड़ा हुआ—लंबा-तगड़ा, नंग-धड़ंग! नहीं पहचाना? ये हैं भद्रबाहु—जैन-धर्म के दिगंबर संप्रदाय के प्रवर्तक।

एक बार की बात है, जोरों का अकाल पड़ा। अन्न का एक कण भी मिलना कठिन हो गया। जल की एक बूँद भी दुर्लभ हो गई। पूरे बारह वर्षों तक यही स्थिति बनी रही। ज़िंदगी और मौत के संघर्ष में मौत का पलड़ा भारी पड़ने लगा। पर भद्रबाहु त्रिकाल-दर्शी थे। उन्हें मालूम था, ऐसे दिन आनेवाले हैं। अतः, पहले ही अपने तमाम शिष्यों को दक्षिणापथ तथा सिंधु आदि देशों में भेज दिया था। स्वयं वहीं बने रहे। पर अपने-आप को जीवित रखने के लिए जितने भोजन की आवश्यकता थी, उतने में कोई दूसरा जीवित रह ले सकता था। अतः, निराहार रहकर उन्होंने समाधि ग्रहण कर ली।

कैसा त्याग! कैसी उदारता!! "जो संपूर्ण मनुष्यता है, वही तो देवत्व है।"

और, थोड़ी दूर पर वह जो धुँधली-सी छायाकृति डोल रही है—श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित; उन्हें पहचान सके आप? वे हैं स्थूलभद्र—श्वेतांबर संप्रदाय के प्रवर्तक।

पर, हम तो भद्रबाहु और उनके संप्रदाय के ही ऋणी हैं। वे न होते तो हिंदी को यों सींच-सींचकर पल्लवित कौन करता ? आदि हिंदी में जितना उन्होंने लिखा, उतना शायद ही किसी ने।

हमारे-उनके बीच आज समय का जितना भी बड़ा व्यवधान क्यों न हो, उनका साहित्य हमारे पास है। वे जितने दूर हैं, उतने ही समीप भी। चाँद आकाश में है, पर चाँदनी यत्र-तत्र-सर्वत्र।

उन जैन कवियों ने अंधविश्वास के गाढ़े पर्दे को चीरकर सत्य के दर्शन किए और उसे भाषा दे दी। उनके निर्भीक स्वर पर चढ़ कर उस दिन जब सत्य गरज उठा ; आडंबर के प्राण सिहर उठे। बूढ़ी ज़िंदगी तन कर खड़ी हो गई।

उन्होंने कहा —भोले मनुष्य ! तू भगवान से भी महान् है; क्योंकि भगवान मनुष्यता के आदर्श का ही नाम है। कुप्रवृत्तियों पर विजय पा लेनेवाला हर मनुष्य महान् है, भगवान है। बाहर नहीं, भीतर देख ! अपनी सद्प्रवृत्तियों को पहचान, विकसित कर !!

जोइय जियडइ जासु पर,
एकु जिणि वसई देउ।
जम्मण मरण विविज्जिउ,
तो पावइ पर लोउ॥

जिसके हृदय में जन्म-मरण से परे एक परमदेव निवास करता है, वही परलोक प्राप्त करता है।

उन्होंने कहा—तू अपने भाग्य का आप निर्माता है। कर्म की छेनी-हथौड़ी से काट-छाँटकर भाग्य की सुंदरतम प्रतिमा गढ़ी जा सकती है। अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है, बुरे का बुरा। इसलिए सत्कर्म पर विश्वास करना सीख!

उन्होंने कहा—लेकिन, कर्म के सामने कर्म का आदर्श भी होना चाहिए—लोक-कल्याण! उसे करुणा और क्षमा से अनुप्राणित होना चाहिए; अहिंसा उसकी आधार-शिला हो। कहीं ऐसा न हो कि तेरे आचरण छोटे-से-छोटे जीव के लिए भी दुःख के कारण बन जायँ!

उन्होंने चेतावनी दी—भोले कर्मयोगी! देख, तेरी राह पर काले साँपों ने डेरा डाल रखा है। तेरी इंद्रियाँ फुंफकार रही हैं, वासना का विष उगल रही हैं। संभलकर कदम बढ़ा—

भोगहँ करहि पमाणु जिय
इंदिय मकरि सदप्प
हंति ण भल्ला पोसिया
दुद्धे काला सप्प

भोगों का परिमाण रख। इंद्रियों को अभिमानी न बना। दूध पिला-पिलाकर काले साँपों का पोषण करना भला नहीं।

संयम और त्याग की इस भावना को उन्होंने कविता में ही नहीं, स्वयं अपने दैनिक जीवन में भी उतार कर रख दिया।

पर, हर किसी के लिए यह सहज नहीं। गुरु की कृपा जरूरी है। सत्गुरु मिल गया तो असंभव भी संभव हो जायगा।—

ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति॥

कुतीर्थों का परिभ्रमण और धूर्त्तता लोग तभी तक करते हैं, जबतक गुरु के प्रसाद से देह के भीतर रहने वाले देवता का ज्ञान नहीं हो जाता।

पर, सत्गुरु को ढूँढ़ लेना जो आसान नहीं! यहाँ तो पाखंडियों की सेना खड़ी है। सिद्धों को उनसे झगड़ना पड़ा था। जैन-कवियों को भी व्यंग्य के वाण चलाने पड़े। उन्होंने कहा—

मुंडिय मंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्त न मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ, संसारहं खंडणु तिं कियउ॥

हे मूँड़ मुड़ानेवालों में श्रेष्ठ मुंडी! तूने सिर ही मुड़ाया; चित्त नहीं। संसार का खंडन तो वही कर सका, जिसने पहले चित्त का मुंडन कर डाला।

पोथी रटकर पंडित बननेवाले भी बचकर न जा सके। उन्होंने फटकारा—

पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोऽसि, परमत्थु ण जाणहि मूढोसि॥

ओ पंडितों में श्रेष्ठ! तू कण को छोड़कर तुष कूटता है। ग्रंथ और उसके अर्थ से ही संतुष्ट है; परमार्थ नहीं जानता। तू मूढ़ है!

निस्संदेह आदि हिंदी के जैन साहित्यकारों ने रूढ़िवाद और अंधविश्वास के खिलाफ़ बग़ावत की थी, गुमराह जनता को वैज्ञानिक दृष्टि दी थी।

आज से लगभग बारह सौ वर्ष पहले की बात है। विक्रम की आठवीं शताब्दी के आसपास आर्यावर्त में मरुतिदेव नाम के एक बड़े प्रतिभाशाली कवि हुए थे। उनकी स्त्री का नाम था पद्मिनी—यथा नाम, तथा गुण। माता पद्मिनी ने स्वयं देव के रूप में सौंदर्य्य और कला को जन्म दिया। स्वयंभूदेव जैन साहित्य के पहले कवि हुए—कवि का पुत्र कवि!

परंपरा टूटी नहीं। स्वयंभूदेव के पुत्र त्रिभुवन भी कवि हुए—कवि ही नहीं, उद्भट विद्वान् और अप्रतिम वैयाकरण भी। त्रिभुवन ने अपने पिता स्वयंभूदेव की सुप्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ कृति 'पउमचरिउ' (रामायण का ही थोड़ा परिवर्तित रूप) में पर्याप्त संशोधन और सुधार किए।

स्वयंभूदेव की अन्य कृतियाँ भी हैं—पंचमिचरिउ, स्वयंभू-छंद आदि।

आदि हिंदी के इस आदि जैन कवि को शत्-शत् प्रणाम!

और, महाकवि पुष्पदंत तो जैन साहित्य में एवरेस्ट की ऊँचाई पर खड़े हैं।

—धँसी हुई निस्तेज आँखें, पिचके हुए गाल, हड्डियों का ढाँचा कुरूपताओं का प्रतीक—विश्वास नहीं होता कि पुष्पदंत-जैसा

महाकवि इतना दीन-हीन और कुरूप रहा होगा। हाँ, उनके दाँत बड़े उजले थे—कुंद के फूल, शायद तभी नाम पुष्यदंत था। तन जितना दुर्बल और कुरूप, मन उतना ही सबल और सशक्त। पुष्यदंत के चेहरे पर कभी शिकन न आई, होठों से मुस्कुराहट न गई। स्वाभिमान तो कूट-कूट कर भरा था। एक बार आश्रयदाता से अनबन हो गई और महल के सुख-ऐश्वर्य पर लात मार कर वह वन के एकांत में चला आया। किसी ने पूछा तो बोल उठा—दुर्जनों की टेढ़ी भौंहें देखना उचित नहीं, चाहे गिरि-कंदराओं में घास खाकर क्यों न रहना पड़े। मा की कोख से उत्पन्न होते ही मर जाना ठीक है, राजा के दुर्वचन सुनना ठीक नहीं।

पुष्यदंत ने अपने अनेक ग्रंथों की रचना की—णायकुमार चरिउ, यशहर चरिउ और कोश-ग्रंथ।

इस स्वाभिमानी एवरेस्ट पर हिंदी को गर्व है।

पर, जैन साहित्य के आँगन में और भी न जाने कितनी नमस्य और प्रणम्य मूर्त्तियाँ हैं—हेमचंद्र, धनपाल, णयणंदि, मुनि रामसिंह, अभयदेव सूरि और चंद्रमुनि।

प्रत्येक की वेदी पर श्रद्धा के दो-दो फूल।

*

जाग मछंदर,
गोरख आया !

(नाथ-साहित्य)

हवा के हिंडोल पर झूमती हुई चाँदनी रात। तारों की छाया में हिम-मंडित कैलाश का रजत-शिखर। दूर-दूर तक बर्फ की सफेद चादर-सी बिछी थी। मानसरोवर के जल पर चाँद का बिंब काँप रहा था। चारों ओर शांति—अखंड और असीम।

पास ही शिलाखंड पर भगवान शंकर के वक्ष से सट कर पार्वती बैठी थीं। न जाने क्या सोचते-सोचते पल भर को उनकी दृष्टि पर्वत-शिखरों के उस पार नक्षत्र-लोक में खो गई। वे हठात् बोल उठीं—प्रभो! एक बात पूछूँ? आपको मैं अधिक प्रिय हूँ या यह मुंडमाल?

भगवान शंकर मुस्कुरा उठे। बोले—"गौरी, तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो!"

"पर, गले से निरंतर झूलते रहने का यह सुहाग गौरी को कहाँ मिलता?"

"मिलता है, देवी ! मेरे गले से झूल रहे ये मुंड गौरी के ही तो हैं !"—भगवान जरा गंभीर हो उठे—"गौरी बार-बार जन्म लेती है, बार-बार मरती हैं और शंकर हर बार...."

"लेकिन, भगवान !"—पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा—"ऐसा क्योंकर होता है ? क्या कारण है कि गौरी बार-बार मरती है और भगवान कभी...." भगवान शंकर बीच ही में बोल उठे—यह एक गुप्त रहस्य है। पर इसकी चर्चा के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं।"

और, दोनों क्षीर-सागर के एकांत में जा पहुँचे। श्वेत चंचल लहरों पर नौका थिरक चली। भगवान ने कहना शुरू किया। पर थोड़ी देर सुनने के बाद ही पार्वती को नींद आ गई। हुंकारी भरने की आवाज़ फिर भी पूर्ववत आती रही। भगवान ने ताड़ लिया। मीननाथ नाम के योगी, मछली का रूप धारण कर, डोंगी के नीचे बैठे, चोरी-चोरी सब सुन रहे थे। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दे डाला—जा, तू एक दिन सारा ज्ञान भूल जायगा !

कुछ दिनों बाद ही शिष्यों को छोड़ कर मीननाथ कदली देश जा पहुँचे। शाप साथ लग गया।

कदली देश की दासियाँ भी सुंदरता की प्रतिमूर्ति होती हैं, रानियों का तो कहना ही क्या ? मंगला और कमला—वहाँ की दो पटरानियाँ थीं। दोनों असीम सुंदरी—दोनों एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर ! उनके रूप की लौ पर योगी का ज्ञान पतंग बन कर लुट गया।

गोरखनाथ गुरु के पतन की कहानी सुनकर स्तंभित हो गए। उद्धार के लिए ब्राह्मण का वेश धारण कर, उन्होंने कदली-वन की राह ली। ब्राह्मण देख कर लोग प्रणाम करने लगे। आशीर्वाद वे कैसे न देते ! पर सिद्ध थे, उनके आशीर्वादों से सब पापी-तापी दुःख-मुक्त होने लगे। इसे ठीक न समझकर उन्होंने योगी का वेश धारण किया। चलते-चलते कदली देश जा पहुँचे और एक सरोवर के किनारे वकुल-पेड़ की छाया में आसन डाल दिया। थोड़ी देर में सरोवर से स्नान कर एक सुंदरी आई। चाँद-सा मुख, नागन-सी लटें, मृगी-सी आँखें—रूप की ऐसी माया उन्होंने शायद पहले न देखी थी। वह आँखें नचाकर मुस्कुरा उठी। गोरख ने अवसर से लाभ उठाया ; गुरु के संबंध में सारी बातें मालूम कर लीं। उसने बताया कि जहाँ मीननाथ पटरानियों के साथ बिहार कर रहे हैं, वहाँ योगी का प्रवेश निषिद्ध है। जाने पर प्राण-दंड मिलेगा। अतः, गोरख ने एक सुंदर नर्तकी का रूप धारण किया। किसी तरह वहाँ जा पहुँचे और अवसर ढूँढ़ कर मृदंग पर बजाया—

जाग मछंदर, गोरख आया !
जाग मछंदर , गोरख आया !!

और, मीननाथ जाग उठे। उन्हें अपना खोया हुआ ज्ञान मिल गया। प्रतिकार-स्वरूप कदली देश की स्त्रियों ने गोरखनाथ के प्राण लेने का षड्यंत्र किया। पर, गोरखनाथ ने शाप दे डाला, और वे सब-की-सब चमगादड़ बन गईं। अपने गुरु और कदली-वन की

रानी से उत्पन्न गुरु के पुत्र विंदुनाथ को साथ लेकर गोरख अपने स्थान विजयनगर को लौट आए।

*　　　*　　　*

नाथपंथ के प्रवर्तक श्री मीननाथ (अथवा मत्स्येंद्रनाथ) के संबंध में यह दंतकथा काफी प्रचलित है। पर, दंतकथा भी बिलकुल निराधार नहीं होती। इससे इतना तो अवश्य पता चलता है कि मीननाथ नाथपंथ के प्रवर्तक थे और गोरखनाथ उनके शिष्य। ऐसा भी समझा जा सकता है कि मीननाथ (जिन्होंने भगवान शिव से महाज्ञान प्राप्त किया था) पहले शैव थे; फिर वज्रयानियों की उस साधना-पद्धति के चक्कर में जा फँसे, जिसमें नारी का सेवन आवश्यक समझा जाता है। तीसरी बात यह कि उनके शिष्य गोरखनाथ बड़े कौशल से उन्हें वज्रयान से विरत कर फिर सही रास्ते पर लाए।

अब तक की खोजों के आधार पर ऐसा जान पड़ता है कि मीननाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथ के आदि-प्रवर्तक नवीं शताब्दी के आस-पास आविर्भूत हुए थे।

गोरखनाथ के शिष्यों में चौरंगीनाथ बड़े प्रसिद्ध हुए। विमाता ने उन्हें अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा, पर, बालू से तेल निकला है कहीं ? चौरंगीनाथ विचलित न हुए। क्रुद्ध होकर, विमाता ने उनकी आँखें निकलवा लीं, हाथ-पाँव कटवा कर उन्हें कूएँ

में डलवा दिया। और, कहते हैं, चौरंगीनाथ पूरे बारह वर्षों तक उसी हालत में कूएँ में पड़े रहे। गोरखनाथ ने अपने गुरु की कृपा से उनका उद्धार किया।

और, राजा भरथरी के नाम से कौन परिचित नहीं ? एक बार वे शिकार में गए। संयोगवश, उन्होंने देखा कि किसी शिकारी को साँप ने काट खाया, और वह मर गया। उसकी स्त्री उसे चिता पर रखकर तुरत उसके साथ-साथ स्वयं भी सती हो गई। राजा विस्मय-विमुग्ध हो रहे।

"महारानी पिंगला इस स्त्री की बराबरी कर सकती है क्या ?" —रह-रह कर संदेह उनके मन में चक्कर काटने लगा; क्यों न परीक्षा ही ले ली जाए ? ठीक तो। राजा ने पिंगला से यह कथा कही तो वह बोल उठी—"मेरे सती हो जाने के लिए तो तुम्हारी मृत्यु का समाचार ही काफी है।" पर, शंकाग्रस्त राजा के मन को विश्वास न हो सका। कुछ दिनों के बाद, जब वे फिर शिकार पर गए तो वहाँ से रानी के पास अपनी मृत्यु की झूठी खबर भिजवा दी। सुनते ही रानी पिंगला चिता में जलकर भस्म हो गई। घर आकर राजा ने जब पिंगला का भस्मावशेष देखा, तो एँड़ी-तले से धरती खिसक गई।

समय पर गोरखनाथ आ पहुँचे। वह दृश्य देखकर, उन्होंने अपने हाथों से अपना भिक्षा-पात्र गिर जाने दिया। पात्र टूक-टूक हो गया। और, भरथरी की ही तरह गोरख भी फूट-फूट कर रो पड़े।

"भिक्षा-पात्र जैसी तुच्छ वस्तु के टूट जाने पर आप रोते हैं ?" —भरथरी ने विस्मित होकर प्रश्न किया—"वह तो दूसरा भी मिल सकता है।"

"दूसरी तो पिंगला भी मिल सकती है।"—गोरख ने कहा —"फिर आप उसकी मृत्यु पर क्यों शोक मना रहे हैं ?" और, ऐसा कह कर गोरखनाथ ने चिता पर जल डाल दिया। देखते-ही-देखते चिता से एक दो नहीं, पच्चीस-पच्चीस पिंगलाएँ उठ खड़ी हुईं। योगी ने फिर जल का एक छींटा मारा और चौबीस विलीन हो गईं, एक शेष रह गई। राजा का मोह दूर हो गया। राजा भरथरी अब योगी भरथरी हो गए।

'माँ' कह कर, पति ने पत्नी के आगे भिक्षा के लिए हाथ फैला दिए। उन हाथों पर पिंगला की आँखों ने अपने अक्षय कोष लुटा डाले। मोह का तिनका बह गया, पर ज्ञान की शिला टस-से-मस न हुई।

भरथरी 'राज-पाट, धन, धरणि-धाम' सब त्याग कर गोरख की शरण में जा पहुँचे। पिंगला कातर नैनों से देखती रही, और उसका भरथरी चला गया।

गोपीचंद भी तो कुछ ऐसे ही सांसारिक सुखों पर लात मार कर ज्वालेंद्रनाथ के शिष्य हो गए थे।

भरथरी और गोपीचंद की कहानियाँ, जनता का स्वर पाकर, करुण संगीत बन गईं। राजपथों और वीथियों में, आज भी उन गीले गीतों की एकाध कड़ी जब-तब सुनाई दे जाती है।

नाथपंथ में निम्नलिखित नौ नाथों की बड़ी चर्चा है :—

१. आदिनाथ
२. मत्स्येंद्रनाथ
३. गोरखनाथ
४. गाहिणीनाथ
५. चर्पटनाथ
६. चौरंगीनाथ
७. ज्वालेंद्रनाथ
८. भर्तृनाथ (भरथरी)
९. गोपीचंद

पर, इनके अतिरिक्त भी बहुतेरे नाथ हैं, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। नाथपंथ के ये साधक पहले साधक थे, फिर कवि। इसीलिए नाथ-साहित्य में सर्वत्र योग और साधना की ही धूम है।

एक दीप दूसरे दीप को जला देता है। पूर्ववर्ती कलाकार परवर्ती कलाकार को आलोक-दान देता है। सिद्धों ने नाथों को कम प्रभावित नहीं किया, पर प्रभावित होना और बात है, अंधानुकरण और बात। कहीं-कहीं तो नाथों ने सिद्धों का विरोध भी किया है।

सिद्धों को सर्वत्र शून्य-ही-शून्य दिखाई पड़ा था। उनका 'शून्य' निरीश्वरवादी धारणा का द्योतक था। नाथों ने भी 'शून्य' की बड़ी चर्चा की, पर ईश्वर की सत्ता का प्रतीक मानकर; उन्होंने कहा—

सुंनि ज माइ, सुंनि ज बाप,
सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचा भया सथिर;
निःचल जोगी गहर गँभीर ॥

अर्थात् वह ईश्वर शून्य-रूप है। वही माता है, वही पिता भी है। अतः, शून्य का परिचय प्राप्त कर, योगी स्थिर, निश्चल एवं गंभीर हो जाता है।

पर उस शून्य तक पहुँचने का कोई उपाय? सिद्धों ने सहज पर जोर दिया था। आसक्ति और विराग के बीच का मार्ग उनका मार्ग था। नाथों ने कहा—नहीं, बिना वैराग्य के जीव का कल्याण संभव नहीं। संसार की क्षणभंगुर रंगीनियों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

"धन जोवन की करै न आस,
चित्र न राखै कामिनी पास।"

हठयोग, कायाकल्प आदि पर भी उन्होंने काफी जोर दिया—

"सास उसास वाइ को भाषिवा,
रोकि लेहु नव द्वारं।
छठै छमासि काया पलटिवा,
तब उन मनीं जोग अपारं॥"

नाथों के अनुसार वैराग्य और हठयोग का मार्ग ही मुक्ति का सच्चा मार्ग है। पर, इतना जान लेने से ही तो काम नहीं चल जाता। कोई पथ-प्रदर्शक तो चाहिए ही। सिद्धों ने गुरु की महिमा गाई थी, नाथों ने भी गुरु का महत्त्व स्वीकार किया—

आकाश तत सदाशिव जाणम,
तसि अभिअंतरि पथ निर्वाणम।
त्यंडे परयाम् नय गुरुमुषि,
जोई बहुडि आवागमन न होई ॥

जिसने आकाश-तत्त्व (शून्य) और सदाशिव को जान लिया है तथा अपने हृदय में निर्वाण का पद प्राप्त कर लिया है, वैसे गुरु से जो भगवान का परिचय प्राप्त करता है, उसका फिर से आवागमन नहीं होता।

पंडितों और पोथियों की भर्त्सना सिद्धों ने की थी, नाथपंथी भी नहीं चूके। उन्होंने कहा--

"काजी, मुल्लाम, कुराणम्,
लगाया ब्रह्म, लगया वेदम्।
कापड़ी संन्यासी तीरथ भरमाया,
न पाया नृवाणम पदका मेवम् ॥"

इन सारी बातों को दृष्टिगत रख कर विचार करने पर कुछ ऐसा लगता है कि "सिद्धों की परंपरा ही विकसित और परिवर्तित रूप में नाथों के द्वारा अपनाई गई।" पर, लोकप्रियता जितनी सिद्धों को मिली, उतनी नाथपंथियों को नहीं। ऐसा कदाचित इसलिए हुआ कि नाथ-संप्रदाय की साधना-पद्धति आम जनता के लिए अपेक्षाकृत कठिन थी। पर, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि तत्कालीन जन-जीवन से नाथपंथ का कोई संबंध न था।

"उस समय जब मुसलमानों का धार्मिक अत्याचार बढ़ रहा था, गोरखनाथ के शिष्यों ने अपनी रचनाओं द्वारा उसका विरोध किया था। उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि हिंदू और मुसलमान, दोनों प्रभु के सेवक हैं, और योगी उन दोनों में कोई अंतर नहीं देखते।"—

"हिंदू मुस्लिम खुदाइ के बंदे,
हम जोगी न रखें किस ही के छंदे।"

भाषा भी नाथपंथियों ने जनता की ही अपनाई। पर, विषय की दुरूहता अभिव्यक्ति को भी गंभीर बना देती है। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें हम समझते हैं, पर समझा नहीं सकते। गूँगा गुड़ का स्वाद ले सकता है, बता नहीं सकता। ईश्वर के खोजियों की भी कुछ ऐसी ही दशा होती है। नाथों ने जहाँ कहीं ब्रह्म-संबंधी अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहा, उनकी वाणी अटपटी हो गई। एक उदाहरण लीजिए—

"नाथ बोले अमृत वाणी,
बरसैगी कँबली भीजैगा पानी।"

ऐसी अटपटी वाणियाँ अथवा "उलटवासियाँ" नाथ-साहित्य में प्रचुर परिमाण में भरी पड़ी हैं। सिद्धों के साहित्य में भी इसके असंख्य उदाहरण देखने को मिलते हैं।

फूल से फल का पता मिल जाता है। नाथ-साहित्य में कबीर और उनकी परंपरा के दर्शन किए जा सकते हैं।

जटा और कुंडल धारण किए, बाघंबर और रुद्राक्ष की माला पहने, भस्म रमाए, कमंडलु लिए—ऐसी आकृतियाँ आज भी उत्तर-भारत के ग्रामों और जनपदों में डोलती फिरती हैं। उन्हें देखकर गोरख और मछंदर का युग आँखों के आगे झलमल कर उठता है।

'न आप आए,
न भेजीं पतियाँ'

(शृंगारी और मनोरंजक साहित्य)

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी। हिन्दी साहित्य की गंगा, सिद्धों और नाथों की पथरीली साधना-भूमि से होती हुई, शृंगार और मनोरंजन के हरे-भरे समतल में आ पहुँची।

जीव और ब्रह्म की चर्चा बहुत हो चुकी थी। जीवन और जगत् की बारी आई। कवियों ने एक बार प्रेम और विरह का महत्त्व भी समझा।

अब्दुर्रहमान कदाचित हिंदी के पहले ऐसे कवि थे, जिन्होंने महसूस किया कि प्रेम जीवन को एक साथ ही मधुर और अमर बना डालनेवाला अमृत है। अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'संनेह-रासय' में कवि ने वियोगिनी के दग्ध हृदय का बड़ा ही मार्मिक चित्र अंकित किया है। पंक्ति-पंक्ति से करुणा छलक उठती है। कविता जितनी सजीव है, भाषा-शैली उतनी ही मंजी हुई। काश! उनकी अन्य कृतियाँ भी मिल पातीं।

'न आप आए, न भेजीं पतियाँ'

बारहवीं शताब्दी का प्रभात—सं० ११०७। मध्यप्रांत के डगर पर कोई गूजरी नारी चली आ रही थी। चाँद-सा मुखड़ा, खंजन-से मद-भरे नैन, मोतियों से सुशोभित पीन पयोधर—नजर जो पड़ी तो कवि हाथों से छूट गया। बोल उठा—

रे धणि ! मत्त मअंगज गामिणि,
खंजण लोअणि चंदमुही।
चंचल जोव्वण जात ण जाणहि,
छइल समप्पहि काइ णही॥

सुंदर गुज्जर णारि, लोअण दीह विसारि।
पीण पओहर भार, लोलिअ मोत्तिअ हारि॥...

ये थे कवि **बब्बर**। इन्होंने प्रायः ऐसी ही स्फुट कविताएँ लिखी हैं, कोई खास ग्रंथ नहीं मिलता।

दिन और रात की श्वेत-श्यामल परियाँ उड़ती रहीं। एक-एक कर लगभग एक सौ साल बीत गए कि एक दिन एटा जिले के पटियाला ग्राम में सहसा गज़ल की यह कड़ी गूँज उठी--

न नींद नैना, न अंग चैना,
न आप आए, न भेजीं पतियाँ।

जाने किस वियोगिनी के दिल का दर्द महाकवि खुसरो ने संगीत-भरे शब्दों में ढाल कर रख दिया।

कलम, तलवार और वीणा के तारों पर एक साथ समान रूप से अधिकार रखनेवाला व्यक्ति असाधारण होगा। खुसरो असाधारण था, विलक्षण था। वह कवि था, गायक था, योद्धा था।

उसने एक साथ प्रेम और युद्ध—दोनों के चित्र प्रस्तुत किए। उसने पद्य लिखा, गद्य लिखा, पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखीं। इतिहास और कोष लिखे। संगीत पर लिखने से भी कलम बाज़ न आई उसकी। सचमुच खुसरो असाधारण था, विलक्षण था।

एक मुकरी तो देखिए—

मेरा मोसे सिंगार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वा से चिक्कन ना कोउ दीसा,
ऐ सखी साजन ? ना सखी सीसा ।।

और, ऐसी पहेलियाँ भी खूब बुझाईं खुसरो ने, जिनमें उत्तर पहेलियों में ही छिपे होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"श्याम बरन औ दाँत अनेक, लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री ।।

सचमुच खुसरो विलक्षण था—अपने ढंग का अकेला।

पर, उसकी सबसे बड़ी विशेषता तो इस बात में है कि वह लीक पर नहीं चला। अलबत्ता, उसने जो लीक बना दी, उस पर सारे जमाने को चलना पड़ा—उस पर जमाने का जमाना चलता चला आया।

वह मुसलमानों का युग था। वह फ़ारसी का युग था। पर, गजब की हिम्मत थी उसकी, जो कह बैठा कि—"हिंदी भाषा फारसी से किसी प्रकार भी हीन नहीं।" कहा ही नहीं, हिंदी को फारसी के समकक्ष बैठा भी दिया।

खुसरो ने जनता की बोली में लिखा। उसने ही सबसे पहले खड़ी बोली हिंदी को कविता में स्थान दिया। आज हम जो भाषा बोलते और लिखते हैं, वह खुसरो की भाषा है—वह हम हिंदी-भाषियों को खड़ी बोली के आदि कवि की देन है।

अपने इस युगांतरकारी अग्रदूत को हम भूल नहीं सकते।

भूले तो मुल्ला दाऊद भी नहीं जा सकते। उन्होंने अपनी प्रेम-कहानियों से हिंदी की जो सेवा की, वह अमर है। खेद है कि उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चंदावन' की कोई प्रामाणिक प्रति अबतक नहीं मिल सकी है।

रहमान और बब्बर, खुसरो और मुल्ला दाऊद—इन मुसलमान कवियों ने हिंदी के दामन पर जो रस के छींटे उछाले, वे आज भी नहीं सूखे—कभी नहीं सूखेंगे। अमीर ख़ुसरो की यह कड़ी तो भुलाए नहीं भूलती—

"न नींद नैना, न अंग चैना,
न आप आए, न भेजी पतियाँ।"

*

संधिकाल : एक झलक

★ **संधिकाल का विस्तार**—सं० ७५० से १०५० तक।

★ **संधिकाल का साहित्य**—हिंदी साहित्य का उद्गम माना जाता है। उसमें जिन प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं उनकी शृंखला बाद के साहित्य में भी बहुत दूर तक बंधी चली गई है।

★ संधिकाल का साहित्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से स्पष्टतः दो **भागों में बाँटा जा सकता है :—**
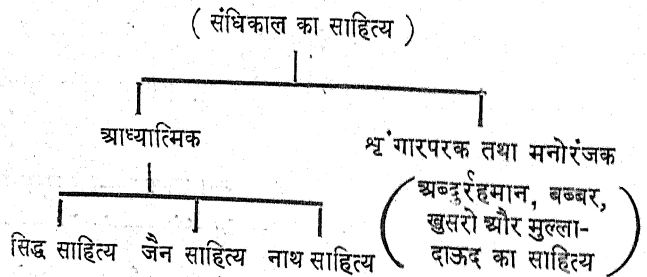
★ **भाषा** का कोई निश्चित रूप नहीं दीखता। अपभ्रंश के गर्भ से हिंदी का जन्म हो रहा है। खुसरो तक आते-आते वह स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

कुल मिला कर संधिकाल की भाषा को आदि हिंदी का नमूना माना जा सकता है।

★ यत्र-तत्र हिंदी **गद्य** के बीज और अंकुर भी देखने को मिल जाते हैं।

खून के छींटे

[वीर-गाथा युग]

खून के छींटे

(वीरगाथा काल)

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी !

झन् !

झन् ! झनून् !!

तलवारें आ टकराईं । चिनगारियाँ छिटकीं और शून्य में विलीन हो गईं । खून के छींटे उड़े और धरती का दामन लाल हो गया ।

भगदड़ ! कोलाहल !········ "पकड़ो ! पकड़ो !!········मारो ! मारो !!········"

"झन् ! झन् !!···छप ! छप !!—आह !!! आ········!"

और, सिर धड़ से अलग हो-होकर जमीन पर आ गिरे । पताका झुक गई ।

"जय हो ! जय हो !!····" पताका आकाश में फहर उठी ।

पर, भाई ने भाई का खून कर दिया ?

नहीं, चौहानों ने तोमरों को पराजित कर दिया ।

भाई ने भाई को मार गिराया ?

नहीं, सोलंकी जीत गए, पँवारों की हार हो गई।

पर, क्या ऐसी जीत-हार से देश कमजोर नहीं होता ?

हुआ करे देश कमजोर। आखिर अपना-अपना सम्मान सबको प्यारा है।

*　　　*　　　*

तब भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। राज्यों की भीड़ थी। राजाओं का मेला था। सभी तथाकथित सम्मान के भूखे थे, इसलिए सभी खून के प्यासे थे। युद्ध होते रहे। देश तबाह होता रहा।

कि एक दिन सहसा उत्तर-पश्चिम की सीमा पर शत्रु के तूर्य बज उठे। मुगल लुटेरे टिड्डी दल की तरह उमड़ते-घुमड़ते आ धमके। तलवारों से तलवारें आ टकराईं। पर, टुकड़ों में बँटा देश कबतक शत्रुओं का मुकाबला करता! जिन तलवारों में ईर्ष्या और विद्वेष का जंग लग चुका था, उनसे कबतक देश की रक्षा हो पाती।

धन लुट गया। धर्म लुट गया। खून की धारा में देश की शांति बह गई। लुटेरे शासक बन बैठे।

*　　　*　　　*

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में युद्ध का जो सिलसिला बँधा, वह लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक लगातार चलता चला आया।

योद्धाओं ने तलवार की नोक से इतिहास के पृष्ठों पर वीरता की लाल कहानियाँ लिखीं। कवियों ने उन कहानियों को छंदों में बाँध कर रख दिया। वे कहानियाँ मुख्यतः दो रूपों में सामने आईं—कहीं प्रबंध-काव्य के रूप में, कहीं वीर-गीतों के रूप में।

पृथ्वीराज की कहानी वीरता की सबसे बड़ी और सबसे शानदार कहानी है, जिसे महाकवि चंदवरदाई ने 'पृथ्वीराज-रासो' नामक प्रबंध-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

तेरहवीं शताब्दी की बात है। मुगलों के बार-बार के आक्रमण से हिंदू-साम्राज्य की नींव हिल चुकी थी। इमारत गिरने को थी; दीप बुझने को था। पर, बुझते हुए दीप की लौ बड़ी शानदार होती है। विनष्ट होते हुए हिंदू-साम्राज्य का अंतिम सम्राट् पृथ्वीराज भी बड़ा ही शानदार था—बड़ा ही बुलंद! परछाईं मनुष्य के साथ पैदा होती है। कहते हैं, कवि चंद और पृथ्वीराज भी एक ही दिन पैदा हुए थे। परछाईं मनुष्य का साथ नहीं छोड़ती। चंद ने कभी पृथ्वीराज का साथ न छोड़ा—युद्ध में, आखेट में, यात्रा में, सभा में; कहीं भी नहीं। ऐसा भी कहा जाता है कि दोनों की मृत्यु भी एक ही दिन हुई—एक ही समय। चंद पृथ्वीराज के राजकवि थे, सखा थे, सामंत थे। दोनों में अविच्छिन्न संबंध था।

एक बार कन्नौज के राजा जयचंद ने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया था। साथ ही, अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंबर भी रचा। निमंत्रण पाकर दूर-दूर से राजे आए। न आया केवल पृथ्वीराज;

क्योंकि अनिमंत्रित था। जयचंद को पृथ्वीराज से पुराना वैर था; अतः उसने पृथ्वीराज को अपमानित करने के खयाल से उसकी एक स्वर्ण-मूर्त्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी। पर उसे क्या पता था कि घर का चिराग ही घर को जलाकर खाक कर देगा!

राजकुमारी संयोगिता को पृथ्वीराज से प्यार था; उसने मूर्त्ति के गले में ही जयमाल डाल दी। अनर्थ हो गया। जयचंद ने सर पीट लिया। संयोगिता घर से निकाली जाकर, गंगा-किनारे की एक काल-कोठरी में नजरबंद कर दी गई। उधर पृथ्वीराज चुपचाप आया और गंधर्व-विवाह कर, उसे हर ले गया। जयचंद के सैनिकों ने रोकना चाहा, पर तूफान भी कहीं रोकने से रुकता है? मुठभेड़ हो गई! तलवारें चमक उठीं! और, पृथ्वीराज लाशों को रौंदता हुआ, खून की नदी को पार करता हुआ, संयोगिता के साथ सकुशल दिल्ली आ पहुँचा।

एकबार नूपुरों की झनकार से राजमहल मुखरित हो उठा। रूप की मादकता ने पृथ्वीराज के शौर्य को पराभूत कर लिया। और, यह सब देख-सुनकर शाहबुद्दीन गोरी की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। उसने आव देखा न ताव, झट दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। पर सोए हुए शेर को जागकर उठ बैठते देर न लगी। पृथ्वीराज ने गोरी के दाँत खट्टे कर दिए। लुटेरा बंदी बनाकर सामने लाया गया। पर, सम्राट् की क्षमाशीलता ने बंदी को मुक्त कर दिया। कुछ दिनों बाद ही गोरी फिर चढ़ बैठा, पकड़ा गया, और फिर उसे क्षमा कर दिया गया।

हौसला बढ़ता गया, वह निरंतर चढ़ाइयाँ करता गया, करता रहा। अंततः पृथ्वीराज बंदी बनाकर गजनी भेज दिया गया। गोरी ने उसकी आँखें निकलवा लीं। पर, चंद फकीर का भेष धारण कर गजनी जा पहुँचा। एक दिन उसके इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्द-वेधी वाण चलाकर गोरी को मार डाला और अंत में दोनों, एक दूसरे को मारकर, सदा के लिए सो गए।

पृथ्वीराज के शौर्य की यही गौरव-गाथा 'रासो' का वर्ण्य विषय है, जिसे चंद ने ढाई हजार पृष्ठों में प्रस्तुत किया है। पर कहते हैं, चंदवरदाई पूरा ग्रंथ नहीं लिख सका था। पृथ्वीराज के गजनी ले जाए जाने के बाद, वह, जब कर्तव्य की पुकार पर, गजनी की ओर चला, तो रासो की अधूरी पांडुलिपि अपने सुयोग्य पुत्र जल्हण के हाथ सौंपता गया—

> "पुस्तक जल्हन हत्थ दै,
> चलि गज्जन्न नृप-काज।"

शेषांश की पूर्त्ति का श्रेय उस सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र जल्हण को ही है।

पर, 'पृथ्वीराज रासो' की जो प्रति अबतक उपलब्ध हो सकी है, वह प्रामाणिक नहीं। उसमें ऐसी-ऐसी ऊटपटाँग घटनाएँ और तिथियाँ हैं, जिन्हें इतिहास स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

पर, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चंदवरदाई महाकवि था। हिंदी उसे पाकर गौरवान्वित हुई।

'वीसलदेवरासो' वीरगाथा काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ है। पर, इसमें तलवारों की नहीं, नूपुरों की झंकार है। यह कोई वीरता की ओज भरी कहानी नहीं, प्रेम और विरह का करुण, मधुर संगीत है।

वीसलदेव अजमेर का चौहान राजा था। मालवा के अधिपति श्री भोज परमार की कन्या राजमती से उसका विवाह हुआ था। राजमती सुंदर थी, आकर्षक थी। युवक वीसलदेव रूप के पाश में आबद्ध हो गया। पर, पर्वत की चोटी पर पहुँचकर भी न रुकनेवाला स्वभावतः, अंत में, समतल पर ही उतर आता है। वीसलदेव शृंगार के शृंग से धीरे-धीरे समतल पर उतर आया। एक दिन कर्त्तव्य पुकार उठा। और, वह सेज से उदासीन होकर समरांगण की ओर चल पड़ा।

रानी वियोग में आठ-आठ आँसू बहाती रही। पर उसका 'राजा' न लौटा। लौटा भी तब, जबकि रानी का पिता भोज आकर उसे अपने घर लिवा ले गया। और, अब वीसलदेव का राजमती के बिना रह पाना असंभव हो गया। बेचारा दौड़ा-दौड़ा ससुर के घर जा पहुँचा और जैसे-तैसे उसे चित्तौड़ वापस ले आया।

यही है 'वीसलदेवरासो' की कथा का कंकाल, जो कवि नरपति नाल्ह की प्रतिभा का स्पर्श पाकर सजीव हो उठा है। और, जब

जनता का स्वर मिल गया तब वीसलदेव की यही कहानी गीत बन कर दिगदिगंत में गूँज उठी, आज भी गूँज रही है।

पर, आश्चर्य होता है, कि जाने क्यों वीर-गाथा-काल में आविर्भूत होनेवाले इस कवि की आँखें वीसलदेव के अप्रतिम शौर्य पर न जाकर, उसके दांपत्य-जीवन पर अटक गईं।

प्रस्तुत ग्रंथ का भी इतिहास से बड़ा कम संबंध है। इसमें काव्य की सरस कल्पनाओं का सौंदर्य मात्र सुसज्जित किया गया है। संयोग और वियोग के मनोहर चित्र भर उपस्थित किए गए हैं। 'इसलिए यह वीर-काव्य न होकर, शृंगार-काव्य ही हो गया है।'

पर, वीर-गाथा-काल के वीर-गीतों में सबसे ऊँचा स्थान जगनिक-रचित 'आल्हाखंड' का है। कालिंजा के राजा परमाल के राज्य में दो क्षत्रिय सामंत हुए—आल्हा और ऊदल। दोनों अपूर्व योद्धा थे—जलते हुए शोले। जिधर उनके कदम बढ़ जाते, लाशें पट जातीं। परमाल के राजकवि जगनिक ने उनकी अपूर्व वीरता और साहस के गीत गाए, जिनकी कड़ियाँ जनता का कंठहार बन गईं।

आज भी, जब सावन और भादो के मेघ, क्षितिज से अँगड़ाई लेकर, आकाश में गरज उठते हैं, उत्तर भारत के गाँव ढोल के गंभीर घोष के साथ आल्हाखंड की इन दर्प-दीप्त कड़ियों से गूँज उठते हैं :—

> "बारह बरिस लै कुकुर जीऐं,
> औ' तेरह लै जिऐं सियार।

बरिस अठारह छत्री जीऐं,
आगे जीयन के धिरकार।"

चंदवरदाई, नाल्ह और जगनिक के अतिरिक्त भी, वीरता के गीत गानेवाले ऐसे अनेक कवि इस काल में हुए, जो प्रणम्य हैं—दलपतविजय, भट्ट केदार, मधुकर और सूर्यमल्ल।

पर, इस वीर-गाथा-काल के साहित्य में वीरता है, वीरता का आदर्श नहीं है। अधिकांश कवि तो ऐसे ही थे, जो किसी-न-किसी राजा के टुकड़ों पर पलते थे—ऐसे राजा के टुकड़ों पर, जो केवल मिथ्या-सम्मान की भावना से प्रेरित होकर, आए दिन अपने ही भाइयों की गर्दन पर तलवार चला देता था। ऐसे ही राजाओं के कायरतापूर्ण अत्याचारों को भी वीरता का रूप देकर छंदों में चित्रित कर देना इन कवियों का धर्म था; क्योंकि नमक खाकर सरीअत न देना पाप समझा जाता है। पर, आश्रयदाताओं के नमक का सरीअत देने वाले, देश के नमक का सरीअत देना भूल गए। यों, अपवाद कहाँ नहीं होते!

वीर-गाथा राजाओं के शौर्य की गाथा थी, पर उसे अभिव्यक्ति दी जनता की भाषा ने ही। वीर-काव्य की इस भाषा को 'डिंगल' नाम दिया गया है, जो अपभ्रंश से निकली हुई हिंदी का ही एक रूप है—राजस्थान में बोला जानेवाला रूप।

एक विद्वान् ने 'डिंगल' की उत्पत्ति 'डिम् + गल' से बतलाई है। उनके अनुसार 'डिंगल' वह भाषा है, जिसके उच्चारण में गले

(गल) से डमरू (डिम) के समान ध्वनि निकलती है। सचमुच डिंगल भाषा में लिखी गई वीर-गाथा-काल की कविता बड़े जोर-जोर से, कुछ इस प्रकार पढ़ी जाती है कि उसमें डमरू की-सी ध्वनि का आरोप उचित ही है। डिंगल के छंद भी वीर-रस की कविता के लिए बड़े उपयुक्त होते हैं।

डिंगल के संबंध में एक अनुमान यह भी है कि वह 'डींग' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—किसी बात को बहुत ज्यादा बढ़ा-चढ़ा कर कहना। वीर-गाथा-काल के कवियों ने जी-भर अपने-अपने आश्रयदाता के संबंध में डींग हाँकी है, दूसरे शब्दों में बहुत बढ़ा-चढ़ा कर उनके तेज-प्रताप का वर्णन किया है।

—नहीं कहा जा सकता कि यही मत सही है, पर यह भी एक मत है, इसमें संदेह नहीं।

डिंगल-साहित्य के दामन पर लगे खून के धब्बे आज से लगभग सात हजार वर्ष पूर्व के हिंदुस्तान की याद दिला देते हैं और कल्पना में अनेक तलवारें एक साथ झनक उठती हैं।

★

वीर-गाथा-काल : एक झलक

★ विस्तार—सं० १०५०—१३७५ तक।

★ परिस्थितियाँ—देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जिनमें आ[illegible] दिन लड़ाइयाँ होती रहती थीं। बाहर से मुगलों के हमले होते रहत[illegible] थे। तलवारों की झंकार से देश का कोना-कोना गूँजता रहता था।

★ स्वभावतः **इस काल का साहित्य** भी खून से रंग गया। राज्याश्रित कवियों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं के शौर्य का वर्णन खुल कर किया। संपूर्ण देश का हित-अहित उन्होंने कभी नहीं सोचा।

★ **भाषा**—

'डिंगल'—इस काल की काव्य-भाषा थी।

★ **प्रमुख कवि** निम्नलिखित थे—

चंदवरदाई—(पृथ्वीराज रासो के रचयिता)

नरपति नाल्ह—(वीसलदेव रासो के रचयिता)

जगनिक—(आल्हाखंड के रचयिता)

भट्ट केदार, मधुकर, सूर्यमल्ल इत्यादि।

★ हिंदू-साम्राज्य के पतन के साथ-साथ वीर-गाथा की **परंपरा** भी समाप्त-प्राय हो चली।

अर्चना के फूल

[भक्ति-युग]

'तलवार की छाया में'

(भक्ति-काल)

जय सोमनाथ !

रक्षा करो, प्रभु !!.......

—भयातुर जनता की करुण पुकारें मंदिर की ऊँची दीवारों से टकरा कर आकाश में खो गईं।

और, पत्थर के सोमनाथ चुप खड़े रहे !

असंख्य-असंख्य करुणा-भरी बेगुनाह आँखें भगवान की रत्नजटित प्रतिमा पर अटक गईं—'शायद कुछ बोल उठें भगवान !'

पर, भगवान का मौन भंग न हुआ, कि सहसा हलचल मच गई। कोलाहल छा गया। महमूद गजनवी भूखे शेर की तरह दहाड़ उठा—'पुजारी ! हट जा सामने से।'—लगा, हिमालय का कोई विशाल शृंग अर्रा कर टूट गिरा हो। दीवारें सिहर उठीं। निस्तब्धता भंग हो गई। पलक मारते महमूद की गदा सर्वशक्तिमान की प्रतिमा पर जा पड़ी और प्रतिमा टूक-टूक होकर बिखर गई।

राजे हार चुके थे, देवता भी हार गए। कल तक नरेशों की तलवार के नीचे जनता की गर्दन पड़ी थी, आज मुस्लिम विजेताओं की तलवार की छाया में लोगों को घृणा और अपमान का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। आराम आज नहीं, तो कल भी नहीं था। पर, इसमें संदेह नहीं कि स्थिति उतनी गंभीर नहीं थी, जितनी आज। कल जीना कठिन था, आज असंभव हो गया।

जनता हाहाकार कर उठी।

पर, सुदूर वैदिक युग के अंतर से फूटकर भारतीय चिंतन की गंगा उपनिषद् की घाटियों और सिद्धों के सुरम्य तपोवनों से होती हुई नाथ-साहित्य की पथरीली साधना-भूमि तक आ पहुँची थी। उसकी क्रुद्ध फेनिल लहरों के आघात से सामंती शासन के कठोर कगारे खिसकने लगे थे। उसका 'हर-हर !!' नाद जन-मन की वाणी बन कर, बस, अब कबीर के प्राणों से फूटने को ही था। भक्ति-साहित्य के बीज देश की मिट्टी में कसमस कर रहे थे। हमारे खून से मुसलमान उन्हें न भी सींचे होते तो भारतीय सामंत तो सींच ही रहे थे। प्रस्फुटित वे होते ही। हिंदी की जमीन पर भक्ति की फ़सल लहराती ही। युग की माँग जो थी !

मुसलमानों के आक्रमण ने भारत के परंपरा-पोषित चिंतन को झकझोर भर दिया और वह दिशा-दिशा से सांत्वना और उद्‌बोधन का स्वर बन कर फूट पड़ा।

दक्षिण से करुणा की एक लहर उठी। स्वामी रामानुजाचार्य की गंभीर वाणी सुनाई दी—"मनुष्य और यह संसार ईश्वर के ही रूप हैं—उन्हीं की सृष्टि। मनुष्य नष्ट नहीं होता, प्रलय-काल में उन्हीं में समाहित हो जाता है।" ईश्वर के संबंध में रामानुजाचार्य ने जो मत प्रगट किया, वह **विशिष्टाद्वैत** कहलाया। रामानंद इन्हीं के शिष्य थे।

सांत्वना का दूसरा स्वर उठा पश्चिम से, गुजरात के प्रांगण से—"ब्रह्म (कृष्ण) अविनाशी है। वह स्वामी है और जीव उसका सेवक। वह राजा है और जीव उसकी प्रजा।" यह स्वामी माध्वाचार्य का स्वर था, जिसे द्वैतवाद की संज्ञा मिली।

और, स्वामी माध्वाचार्य के स्वर से ही मिलता-जुलता-सा एक तीसरा स्वर, जो तत्कालीन भारतवर्ष के वायुमंडल में गूँज उठा, विष्णुस्वामी का स्वर था। उन्होंने कृष्ण के साथ-साथ राधा की भक्ति पर भी जोर दिया। ब्रह्म-संबंधी उनकी यह धारणा शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाप्रभु बल्लभाचार्य इसी पथ के पथिक थे।

चौथा और शायद अंतिम स्वर था, स्वामी निंबार्क का। उन्होंने कहा—"जीव और ब्रह्म दो हैं, पर जीव जब ब्रह्म में अपना अस्तित्व खो देता है, तब दो की स्थिति नहीं रह जाती। तब दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।" यह मत **द्वैताद्वैत के** नाम से विख्यात हुआ।

इस प्रकार दिशा-दिशा से सांत्वना के स्वर फूट पड़े और इनके स्वरों के संगम में अवगाहन कर जनता चैतन्य हो उठी। उसने

सोचा और समझा। उसने महसूस किया—भगवान मंदिर की चहारदीवारियों में सीमित नहीं; वह तो सर्वत्र व्याप्त है—'हम में तुम में, खड़ग, खंभ में।' फिर किसी गजनवी के गदा-प्रहार से उसका क्या बिगड़ सकता है?

कि सहसा किसी मस्तमौला ने गाया—

> ना मैं मंदिर, ना मैं मसजिद, ना कावे-कैलास में।
> मोको का तू ढूँढ़ै बंदे, मैं तो तेरे पास में॥

और, जनता को खोया हुआ विश्वास मिल गया। खून से रँगी तलवार की छाया में भी एक बार जीवन की बेलि फिर से लहलहा उठी।

*

'झीनी झीनी बीनी चदरिया'

(ज्ञानाश्रयी शाखा)

जेठ का महीना। पूनम की रात। पुरवैया उठी, फिर बादल। फिर धीरे से "टप-टप ! झिर-झिर !! झम-झम !!!"—पेड़ों पर जल-परियों के नूपुर बज उठे।

लहरतारा के ताल पर सगर्व खड़ा विशाल वृक्ष झूम उठा। उसकी छाया में कोई कली-सा नवजात शिशु पत्तों में ढँका पड़ा था। सहसा बादल गरजा, बिजली कड़की और 'मा ! मा !!" की अस्फुट ध्वनि से रात गूँज उठी, कि सहसा चाँद के धुँधले प्रकाश में कोई मानव-आकृति आती हुई दिखाई पड़ी। 'आँ ! आँ !!'—शिशु जोर-जोर से चीख उठा। आकृति ताल के पास आकर ठिठक गई। उसकी सहमी हुई आँखों ने एक बार अगल-बगल देखा और काँपते हुए हाथों ने शिशु को उठा कर कलेजे से चिपका लिया।

मेघ-खंडों से झाँक कर पूनम का चाँद मुस्कुराया, मानों कुंद की कलियाँ बिखर गईं।

*　　　*　　　*

कौन जानता था, लहरतारा के ताल पर यों लापरवाही से फेंक दिया गया एक निःसहाय शिशु नीरू-जैसे दीन-हीन जुलाहे के वात्सल्य की छाया पाकर एक दिन महात्मा कबीर बन जाएगा !

हाँ, वह शिशु होनेवाला महात्मा कबीर था !

ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, उसके संस्कार विकसित होते गए। वह माथे पर चंदन डालकर 'राम ! राम !!' की रट लगाता फिरता। डाँट भी पड़ती, पर झरने का पानी चट्टानों का अनुशासन नहीं मानता।

विना गुरु के ज्ञान नहीं होता। अतः, स्वामी रामानंद का महात्म्य सुन कर कबीर के हृदय में उनके शिष्य हो जाने की लालसा जाग उठी। बात सहज न थी। पर जहाँ चाह, वहाँ राह। अभी एक पहर रात बाकी ही थी कि कबीर मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर जाकर पड़ रहे। नित्य की तरह आज भी रामानंदजी स्नान के लिए आए और एक-एक कर सीढ़ियाँ उतरने लगे। अंधेरे में उनका पैर कबीर पर जो पड़ा तो वे चट बोल उठे—'राम-राम कह !' और, कबीर ने इसी 'राम-राम' को गुरु-मंत्र मान लिया। मन की साध पूरी हो गई।

पर, आगे चलकर कबीर के राम रामानंद के राम से भिन्न हो गए। उन्होंने कहा—

दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

सचमुच कबीर का राम दशरथ का बेटा नहीं, लंका के राजा को मारनेवाला भी नहीं। वह तो ब्रह्म के पर्याय है।

अपने राम के नाम का मरम बतलाते हुए उन्होंने कहा—

निर्गुन की सेवा करो, सगुन को करो ध्यान।
निर्गुन सगुन से परे, तहाँ हमारो ग्यान॥

कबीर ने अपने राम को निर्गुण भी कहा है, सगुण भी। पर, उनका यथार्थ रूप निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। उनका राम कदाचित निर्गुण इसलिए है कि वह सत, रज और तम के बंधन से परे है, देखा नहीं जा सकता—उसका कोई रूप नहीं, आकार नहीं। सगुण इसलिए कि वह दया, क्षमा आदि सद्गुणों से युक्त सब के घट में समाया हुआ है। यह सारी सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है। अतः, सभी रूप उसी के रूप हैं, सभी वर्ण उसी के वर्ण। फिर, रूप और रंग से युक्त होने पर भी उसे सगुण कैसे नहीं कहा जाय? पर, निर्गुण और सगुण राम के दो अलग-अलग रूप ही हैं, स्वयं राम तो इन दोनों से परे एक तीसरी ही सत्ता है। बर्फ और भाफ—दोनों जल ही के दो रूप हैं, फिर भी वे जल नहीं कहे जा सकते। जल तो इन दोनों से परे एक तीसरी ही सत्ता है।

जब तक इस राम से मिलन नहीं होता, आत्मा तड़पती रहती है। कबीर की आत्मा भी अपने बालम के वियोग में रह-रह कर तड़प उठती थी—

दिन नहीं चैन रात नहीं निंदिया, तड़पै बिनु बालम मोरा जिया ।

पर, एक दिन आया जब उसे अपना बालम मिल गया और खुशी से पागल होकर उसने सबको बता दिया—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय ।
पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय ।।

फिर तो सर्वत्र उसी की झलक दिखाई पड़ने लगी, दोनों में कोई अंतर ही नहीं रह गया :—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ।।

पर, इस बालम को पा लेना सहज नहीं। लोग किताबों में उसे ढूँढ़ते हैं, पर वह तो प्रेम का भूखा है। तभी व्यंग्य की हँसी हँस कर कबीर कह उठे—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ।।

लोग मंदिरों और मसजिदों में उसे ढूँढ़ते हैं, पर कबीर ने झल्ला कर कहा—

काँकर-पाथर जोरि के मसजिद लई बनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय ।।

उस बालम के रँग में मन न रँगा तो तन पर का कपड़ा रँगने से क्या लाभ ? कपड़ा रँग कर योगी बन जानेवालों की खूब खिल्लियाँ उड़ाई कबीर ने—

मन न रँगाय, रँगाय जोगी कपड़ा ।

सच्ची बात तो यह है कि जब तक गुरु का कृपापूर्ण पथ-प्रदर्शन नहीं मिलता तब तक प्रेम का काँटों-भरा पथ पार कर उस बालम तक जा पहुँचना बड़ा कठिन काम है। तभी कबीर ने कहा—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े,
काके लागूँ पायँ।
बलिहारी वा गुरु की जो,
गोविद दियो बताय ॥

कबीर ने कहा—'संसार में लिप्त रहना ठीक नहीं, घर-बार छोड़ कर जंगल चला जाना भी ठीक नहीं। सहज भाव से संसार के रसों का आस्वादन करते हुए उस बालम का चिंतन करना ही ठीक है। साधना के नाम पर अपने आपको नाना प्रकार के कष्ट देने से क्या लाभ ?'—

संतो! सहज समाधि भली।

और, उस मस्तमौला ने जो सहज-समाधि लगाई, उससे उसका ही नहीं, वरन् संसार का भी कल्याण हुआ। वे उस समय आविर्भूत हुए थे, जिस समय देश जात-पाँत और धार्मिक भेद-भाव की चिता पर पड़ा एक चिनगारी मात्र की प्रतीक्षा कर रहा था। वे न आए होते, तो सब जल कर खाक हो गया होता। बड़े जोरदार शब्दों में उन्होंने कहा--

कह हिंदू मोहिं राम पियारा,
तुरुक कहें रहिमाना।
आपस में दोउ लड़ि-लड़ि मूए,
मरम न काहू जाना॥

एक धरती पर, एक आकाश के नीचे रहनेवाले हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के खून के प्यासे बन जायँ, यह कबीर को गवारा न हो सका—

कोइ हिंदू कोइ तुरुक कहावै,
एक जमीं पर रहिए।

फिर, यह कैसे गवारा हो सकता था कि उनकी आँखों के सामने हिंदू हिंदू का ही गला काट कर रख दे; ब्राह्मण शूद्रों को पीस डाले! कबीर ने डपट कर पोंगा पंथी ब्राह्मणों से पूछा—

जो तुम बाम्हन-बाम्हनि जाए,
और राह तुम काहे न आए?

सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की ही संतान हैं—'को ब्राह्मण, को शूद्रा!'

निस्संदेह कबीर शोषित-पीड़ित जनता के प्रतिनिधि थे—नेता थे। पर, मोह और माया का गट्ठर लाद कर चलनेवालों से उनका मेल न था। तभी उन्होंने ललकार कर कहा—

कबिरा खड़ा बजार में,
लिए लुकाठी हाथ।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया'

जो जारै घर आपना,

चलै हमारे साथ।

कहते हैं, काजर की कोठरी से बे-दाग निकल जाना असंभव है। पर, कबीर ने असंभव को संभव कर दिखाया। शरीर की 'झीनी झीनी चदरिया' ओढ़ कर वे विषय-वासनाओं से भरे इस संसार की सेवा करते रहे—डगर-डगर डोलते फिरे। पर, संसार उनकी चादर पर अपनी छाप न डाल सका। वे बाल-बाल बच कर निकल गए।

सं० १५७५ की बात है। कबीर ने मगहर में यह चादर उतार कर रख दी। हँसते-गाते आए थे, हँसते-गाते चल दिए—

झीनी झीनी बीनी चदरिया

*　　　　*　　　　*

यह चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ि, ओढ़ के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ि, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

कबीरदास के साथ **धरमदास** का नाम न लेना धर्म-विरुद्ध होगा; क्योंकि वे कबीर के अन्यतम शिष्य थे—अनन्य भक्त।

"गुरु मोही खूब निहाल कियो।
बूड़त जात रहे भवसागर, पकरि के बाँहि लियो।"

—ये उन्हीं की पंक्तियाँ हैं।

कहते हैं, अहमदाबाद में लोदीराम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके कोई संतान नहीं थी। पर, एक दिन उसने देखा—साबरमती की धारा में एक संदूक बहता चला आ रहा है। उसे बाहर लाकर खोला, तो स्तंभित रह गया—उसमें एक नन्हा-सा बालक लेटा मुस्कुरा रहा था। आँखों से आनंदाश्रु उमड़ पड़े। और, जब ब्राह्मण की पत्नी ने उसे देखा; स्तनों से दूध की धारा फूट निकली।

ब्राह्मण-दंपत्ति के प्यार की छाया में पलकर जब बालक बड़ा हुआ, एक दिन भगवान श्रीकृष्ण स्वयं एक वृद्ध महात्मा का रूप धारण कर, द्वार पर आ पहुँचे। उनके हाथों से तत्त्व-ज्ञान का प्याला पीकर वह बालक संत बन गया। दादू को कौन नहीं जानता?

कबीर की ही तरह दादू की भी आत्मा तड़प उठी—अपने प्रियतम से मिलने के लिए। उन्होंने कहा—

बाला सेज हमारी रे तू आव!

पर, इस पर भी जब प्रियतम न आया, उसकी अंतरात्मा तड़प उठी—

तलफि-तलफि बिरहिनि मरै,
करि-करि बहुत बिलाप।
बिरह-अगिनि में जल गई,
पीव न पूछै बात॥

कबीर को भी इसी तरह अपने 'पीव' के वियोग में जलना पड़ा था। पर, एक दिन आया, जब उसका 'पीव' उसे मिल गया। दादू के जीवन में भी एक दिन मिलन का यह शुभ अवसर आया। फिर तो--

सइयाँ सोवैं सेज पर, दादू चंपै पाँव।

पर, गुरु की कृपा के विना ऐसा सौभाग्य नहीं मिल पाता। दादू ने डंके की चोट कहा कि लाखों चंद्रमा और करोड़ों सूर्य उग जायँ, फिर भी गुरु के विना अंधकार दूर नहीं हो सकता--

"इक लख चंदा आणि घर,
सूरज कोटि मिलाइ।
दादू गुरु-गोविंद बिनु,
तौ भी तिमिर न जाइ।।

एक बार की बात है, दादू के एक प्रमुख शिष्य जग्गाजी आमेर नगर में अपना कपड़ा बुनने के लिए सूत माँगते फिर रहे थे—'दे माई सूत, ले माई पूत!' आवाज सुनकर एक लड़की बाहर निकल आई।—लड़की ने पुकारा—'बाबा! ओ बाबा!!' जग्गाजी ने समीप आते हुए पूछा—'क्या है माता?'

'ले बाबा, सूत!'

—पर, लड़की के इतना कहते ही जग्गाजी के मुँह से हठात निकल पड़ा—'ले माई पूत!' पर, जब दादू को सारा हाल मालूम हुआ तब वे बड़ी चिंता में पड़े। एक तो लड़की कुमारी, तिस पर उसके भाग्य में संतान-सुख नहीं लिखा था। पर, दिए हुए वचन

कहते हैं, अहमदाबाद में लोदीराम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके कोई संतान नहीं थी। पर, एक दिन उसने देखा—साबरमती की धारा में एक संदूक बहता चला आ रहा है। उसे बाहर लाकर खोला, तो स्तंभित रह गया—उसमें एक नन्हा-सा बालक लेटा मुस्कुरा रहा था। आँखों से आनंदाश्रु उमड़ पड़े। और, जब ब्राह्मण की पत्नी ने उसे देखा ; स्तनों से दूध की धारा फूट निकली।

ब्राह्मण-दंपत्ति के प्यार की छाया में पलकर जब बालक बड़ा हुआ, एक दिन भगवान श्रीकृष्ण स्वयं एक वृद्ध महात्मा का रूप धारण कर, द्वार पर आ पहुँचे। उनके हाथों से तत्त्व-ज्ञान का प्याला पीकर वह बालक संत बन गया। दादू को कौन नहीं जानता ?

कबीर की ही तरह दादू की भी आत्मा तड़प उठी—अपने प्रियतम से मिलने के लिए। उन्होंने कहा—

बाला सेज हमारी रे तू आव !

पर, इस पर भी जब प्रियतम न आया, उसकी अंतरात्मा तड़प उठी—

तलफि-तलफि बिरहिनि मरै,
करि-करि बहुत बिलाप।
बिरह-अगिनि में जल गई,
पीव न पूछै बात॥

कबीर को भी इसी तरह अपने 'पीव' के वियोग में जलना पड़ा था। पर, एक दिन आया, जब उसका 'पीव' उसे मिल गया। दादू के जीवन में भी एक दिन मिलन का यह शुभ अवसर आया। फिर तो--

सइयाँ सोवैं सेज पर, दादू चंपै पाँव।

पर, गुरु की कृपा के विना ऐसा सौभाग्य नहीं मिल पाता। दादू ने डंके की चोट कहा कि लाखों चंद्रमा और करोड़ों सूर्य उग जायँ, फिर भी गुरु के विना अंधकार दूर नहीं हो सकता--

"इक लख चंदा अणि घर,
सूरज कोटि मिलाइ।
दादू गुरु-गोविंद बिनु,
तौ भी तिमिर न जाइ।।

एक बार की बात है, दादू के एक प्रमुख शिष्य जग्गाजी आमेर नगर में अपना कपड़ा बुनने के लिए सूत माँगते फिर रहे थे—'दे माई सूत, ले माई पूत!' आवाज सुनकर एक लड़की बाहर निकल आई।—लड़की ने पुकारा—'बाबा! ओ बाबा!!' जग्गाजी ने समीप आते हुए पूछा—'क्या है माता?'

'ले बाबा, सूत!'

—पर, लड़की के इतना कहते ही जग्गाजी के मुँह से हठात निकल पड़ा—'ले माई पूत!' पर, जब दादू को सारा हाल मालूम हुआ तब वे बड़ी चिंता में पड़े। एक तो लड़की कुमारी, तिस पर उसके भाग्य में संतान-सुख नहीं लिखा था। पर, दिए हुए वचन

का क्या हो ? अंत में गुरु की आज्ञा से जग्गाजी को स्वयं उस कन्या के गर्भ में बास कर उसके पुत्र के रूप में फिर से जन्म लेना पड़ा।

छः साल बाद जब दादू उस कन्या के घर पधारे तब उसके पति ने बालक को उनके चरणों में डाल दिया। दादू स्नेह-विह्वल होकर बालक के सिर पर हाथ फेरते हुए बोल उठे—"वाह, कितना सुंदर है!" उसी दिन से बालक का नाम 'सुंदर' पड़ा। आगे चलकर यही बालक सुंदर 'महात्मा सुंदरदास' के नाम से विख्यात हुआ।

महात्मा सुंदरदास की भी साधना-पद्धति वही रही जो कबीर अथवा दादू की थी। उन्होंने भी निगुंण और सगुण से परे परस्पर ब्रह्म की ही उपासना की, एक मात्र उसी से प्रेम किया—

'प्रीतम मेरा एक तू, सुंदर और न कोय।
गुप्त भया किस कारने, काहि न परगट होय॥'

और, जब पता मिल गया तो :—

'सुंदर राखै नैन में, पलक उघारै नाहिं।'

कबीर के प्रियतम ने कहा था—'मोको का तू ढूँढै बंदे, मैं तो तेरे पास में।" सुंदर ने भी अपने दिल ही में उसका पता पा लिया—

सुंदर अंदर पैसि करि, दिल में गोता मारि।
तो दिल ही में पाइए, साईं सिरजनहारि॥

गुरु के महत्त्व, संसार की निस्सारता आदि के संबंध में भी सुंदर ने एक-से-एक सुंदर पद कहे हैं।

पर, कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण मत की परंपरा यहीं समाप्त नहीं होती। उसमें एक-से-एक संत हुए, एक-से-एक कवि—धन्ना, पीपा और नानक; रज्जब, तुलसी और दूलभ; भीखा, गरीबदास और पलटू। और, न जाने इस परंपरा के कितने ऐसे कवि हुए, जिन्हें इतिहास की सीमाएँ न छू सकीं।

पर, एक बात। इन निर्गुणियाँ संतों की काव्य-साधना पर विचार करने से कुछ ऐसा लगता है, मानो सिद्धों और नाथपंथियों का स्वर ही इनके कंठों से अधिक सबल और सशक्त होकर फूटा हो।

उन संतों ने जनता की भाषा के प्रति आग्रह प्रगट किया था, इन संतों की प्रवृत्ति भी जन-भाषा की ओर ही रही। उन संतों ने प्रतीकों का प्रयोग किया था, इन संतों ने भी खुलकर प्रतीकों का प्रयोग किया। उन्होंने अटपटी वाणियाँ कही थीं, इन्होंने भी कहीं।

सचमुच पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती कवियों में फूल और फल का संबंध होता है।

अभी कल की ही तो बात है, इन संतों की भावनाएँ रवींद्र के रुपहले-सुनहले छंदों में बंधकर संसार के कोने-कोने में गूँज उठी थीं। आज भी गूँज रही हैं।

मंत्र-मुग्ध श्रोताओं के बीच उस सूरदास को देखिए! कितनी तन्मयता से डफली पर थाप दे-देकर गा रहा है :—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।

दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

'पिउ हिरदय मँह, भेट न होई'

(प्रेम-काव्य)

एक था राजा। उसका नाम था गंधर्वसेन। राजा को एक कन्या हुई; कन्या बढ़ने लगी, बढ़कर जवान हो गई, जैसे पूनम का चाँद। उसकी ज्योत्स्ना जो फैली, तो भूमंडल झूम उठा। पर, वह उदास रहा करती—अपने विवाह की चिंता से। सुग्गे हिरामन से यह सब देखा न गया। वह एक दिन चुपके से उड़ चला—वर की तलाश में। रास्ते में बहेलिए ने पकड़ा और बेच दिया उसे। बेचारा बिक कर चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के पास जा पहुँचा। राजा ने उसके मुख से राजकुमारी पद्मावती के रूप का वर्णन जो सुना, तो बेहोश हो रहा। फिर तो कैसा खाना और कैसा पीना! एक दिन राज-पाट छोड़कर सोलह हजार योगियों के साथ पद्मावती की खोज में निकल पड़ा। नदियों, पर्वतों और समुद्रों को रौंदता हुआ योगियों की वह सेना सिंहल जा पहुँची—पद्मावती के देश में। पथ-प्रदर्शन हिरामन कर रहा था। पर, प्रेम की राह तलवार की धार होती है। चित्रसेन को सिंहल पर आक्रमण करना पड़ा।

भीषण युद्ध हुआ। जान पर बन आई। बेचारा मरते-मरते बचा। देवताओं ने सहायता न दी होती तो पद्मावती आकाश-कुसुम ही रह जाती उसके लिए।

उधर चित्रसेन की विवाहिता पत्नी नागमती वियोग में तड़पती रही और एक साल बीत गया। एक दिन जब एक पक्षी ने राजा को रानी का करुण संदेशा कह सुनाया तो उसका सपना टूटा। वह पद्मावती और अन्य साथियों सहित चित्तौड़ लौट पड़ा। फिर हँसी-खुशी से दिन बीतने लगे।

पर, सुख के क्षण कपूर की तरह उड़ जाते हैं, दुख पर्वत बन कर सर पर टूट पड़ता है। एक दिन रुष्ट होकर राजा ने अपने पंडित राघवचेतन को राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे डाली। फिर तो चोट खाए हुए सर्प ने अपना फन फैलाया। क्रुद्ध राघव दिल्ली जाकर बादशाह अलाउद्दीन से मिला और पद्मावती के अप्रतिम सौंदर्य का लोभ दिलाकर उसे ऐसा उभाड़ा कि वह चित्तौड़ पर चढ़ आया। जब युद्ध में सफलता न मिली, तब उसने कूटनीति से काम लिया और किसी तरह राजा को ही बंदी बना ले गया। पर, गोरा और बादल की चातुरी और वीरता ने अलाउद्दीन की सारी आशा पर पानी फेर दिया। उन दोनों ने अपनी जान की बाज़ी लगाकर रत्नसेन की जान बचाई।

पर, 'हरि इच्छा प्रबल।' रत्नसेन देवपाल के साथ द्वंद्व-युद्ध में मारा गया और पद्मावती एवं नागमती उसके शव को लेकर

सती हो गईं। अलाउद्दीन ने फिर चढ़ाई की। पर, तबतक पद्मावती तो नहीं, उसकी राख जरूर शेष रह गई थी।

*　　　*　　　*

यह प्रेम-कहानी है पद्मावती की, जिसकी रचना आज से लगभग चार सौ साल पहले मलिक मुहम्मद जायसी ने की थी।

कवि जब कुछ कहना चाहता है तब कहने का बहाना ढूँढ़ लेता है। प्रस्तुत कहानी एक ऐसा ही बहाना है। उसके माध्यम से कवि ने आत्मा और परमात्मा की बात कही है।

आत्मा है, रत्नसेन। परमात्मा है, पद्मावती। जबतक परमात्मा से मिलन नहीं होता, आत्मा तड़पती रहती है। मिलन की शर्त्त है प्रेम। पर, दो प्रेम करनेवाले पवित्र हृदयों के बीच दुनिया दीवार बन कर खड़ी हो जाती है। नागमती दुनिया-धंधा का ही प्रतीक तो है, जो दीवार बन कर खड़ी हो गई है, रत्नसेन और पद्मावती के बीच। फिर मिलन कैसे हो? सवाल टेढ़ा जरूर है। पर, सत्गुरु की कृपा से असंभव भी संभव हो जाता है। हिरामन सत्गुरु हैं। वह रत्नसेन को पद्मावती से मिला देता है।

तात्पर्य यह कि परमात्मा को पाने के लिए दो बातें जरूरी हैं—सच्चा प्रेम और सच्चा गुरु। सुलगाते बन पड़ा तो प्रेम की एक चिनगारी काफी है—

> मुहमद चिनगी प्रेम के, सुनि महि गगन डेराइ,
> धनि बिरही अरु धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ।

पर, प्रेम की यह चिनगारी तो कोई सत्गुरु ही दे सकता है। अवश्य ही उसे प्रज्ज्वलित कर लेना शिष्य की अपनी क्षमता पर निर्भर करता है :—

गुरु बिरह चिनगी जो मेला,
जो सुलगाइ लेइ सो चेला।

ऐसा प्रेम नक्षत्र के प्रकाश-सा निष्कलंक होता है; वह दीप की लौ नहीं, जिसके शीर्ष पर कालिमा भी होती है। पद्मावती में वर्णित प्रेम शुद्ध और पवित्र प्रेम है। उसे सांसारिकता से प्रयोजन नहीं। तभी उसमें 'मानसिक पक्ष प्रधान है, शारीरिक गौण।'

नज़र बदलती है तो दुनिया भी बदल जाती है। जब आँखों में प्रियतम समा जाता है तब सर्वत्र उसी की छाया दिखाई पड़ने लगती है। प्रकृति के दर्पण में प्रियतम का बिंब देखकर कवि कह उठा—

रवि, शशि, नरतन दिपहिं ओहि जोती,
रतन पदारथ मानिक मोती।

जायसी सूफी था और 'पद्मावत' में वर्णित ये सारी बातें सूफी मत की ही व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। कहानी तो बहाना भर है।

पर, सूफीमत की सीमाओं में बंदी होकर जायसी का व्यक्तित्व न रह सका। भारतीय तत्त्वचिंतन से भी उसने बहुत कुछ लिया। उसके दार्शनिक सिद्धांतों पर वेदांतर के पर्याप्त प्रभाव दीखते हैं।

जायसी रहस्यवादी था और उसके रहस्यवाद में जैसी सरसता है, वैसी कबीर के रहस्यवाद में नहीं।

कबीर ने ज्ञान की बात कही थी, जो सामान्य जनता की पकड़ में न आ सकी। जायसी ने प्रेम का दर्द-भरा गीत गाया और हर हृदय के तार झनझना उठे। फिर, उसने ऐसी कहानियों के माध्यम से अपनी बात कही, जो घर की थीं, पड़ोस की थीं। नागमती का विरह-वर्णन हृदय तो क्या, पत्थर पिघला देने की क्षमता रखता है। तभी लोगोंने समझा और सराहा। क्या हिंदू, क्या मुसलमान, सबने प्रेम की इस पुण्य-सलिला में, भेद-भाव भूल कर, एक साथ अवगाहन किया। 'अख़रावट' और 'आख़िरी क़लाम' उसी की रचनाएँ हैं। कदाचित और भी कई ग्रंथ उसने लिखे थे, जो उपलब्ध नहीं।

मलिक मुहम्मद जायसी प्रेम-काव्य के उच्चतम शिखर का नाम है। शिखर के इस पार और उस पार भी कुछ छोटे-बड़े टील्हे हैं, पर टील्हे ही। लगे हाथों उनकी भी चर्चा कर लेना अप्रासंगिक न होगा। प्रेम-गाथा की यह परंपरा पद्मावत के बहुत पहले से चली आ रही है। सूत्रपात एक प्रकार से चारण-काल ही में हो चुका था। माननेवालों ने मुल्ला दाऊद के 'चंदावत' को ही इसका आदि माना है। इसके बाद की लिखी गई प्रेम-काथाओं का हवाला जायसी ने अपने पद्मावत में इस प्रकार दिया है—(१) स्वप्नावती, (२) मुगधवती, (३) मृगावती, (४) खंडरावती, (५) मधुमालती और (७) प्रेमावती। पर, उपलब्ध दो ही हैं—मृगावती और मधुमालती।

मृगावती की रचना कुतवन ने की थी और मधुमालती की मंझन ने। एक में कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती और चंद्रगिरि के राजकुमार की प्रेम-कथा है; दूसरे में कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम-कथा। इन दोनों ग्रंथों का निर्माण प्रायः उन्हीं तत्त्वों से हुआ है जिनसे पद्मावत का। पर, मधुमालती में जो भाव की तरलता और कल्पना की रंगीनी है, वह मृगावती में नहीं।

ये छोटी-मोटी प्रेम-गाथाएँ महत्त्वहीन हो कर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं; क्योंकि इनकी जाति और परंपरा वही है, जो पद्मावत की है। पद्मावत जिस पर्वतका अभ्रभेदी शिखर है, ये उसी के शिला-खंड।

'सियाराममय सब जग जानो'

(राम-काव्य)

प्रतिभा ग़रीबी में चमकती है, जैसे दीप की लौ अंधकार में।

जिस दिन उसने आँखें खोलीं, उसी दिन माता ने अपनी आँखें बंद कर लीं। ज्योंही पिता का दामन थाम लेने को उसने हाथ फैलाए, पिता अंतर्ध्यान हो गए। और, नियति ने संतोष की साँस ली।

फूल-सा शरीर। चांद-सा चेहरा। पर, भूख ने भिखारी बना छोड़ा। तन पर कथरी, हाथ में मिट्टी का भिक्षा-पात्र और बस—यह शृंगार परिस्थिति ने किया था उसका। वह नन्हा-सा बालक सुबह से शाम तक गली-गली की खाक छानता, घर-घर टुकड़े माँगता फिरता। पर, मिलती फटकार और गालियाँ।

वह 'राम! राम!!' कह कर माँगता, इसीलिए दुनियावालों ने शायद खीझ कर उसे 'रामबोला' कह डाला। अन्यथा, उसके नामकरण की चिंता किसे थी ?

दुनिया ने रामबोला को यातनाएँ दीं, पर रामबोला न होता तो दुनिया को राम कौन देता ?

रामबोला बड़ा हुआ—ग़म खाकर, आँसू पीकर। उसने प्रेम किया—रत्ना से, फिर राम से। उसने विवाह किया, गृहस्थी की। पर, भक्ति का पलड़ा भारी रहा। मुक्ति पीछे छूट गई। वह वैराग्य धारण कर घर से बाहर निकल पड़ा।

पारस का संस्पर्श पाकर लोहा सोना बन जाता है। गुरु नरसिंह का संस्पर्श पाकर रामबोला तुलसीदास बन बैठा। उसने गुरु के मुख से राम की कथा सुनी; अपने मुख से सारे संसार को सुनाई। उसकी कलम से प्रतिभा का निर्झर फूटा और 'मानस' में परिणत हो गया।

सहने की भी सीमा होती है। जनता का धैर्य उस सीमा को पार कर चुका था, जब तुलसी का आविर्भाव हुआ। घर के झगड़े, बाहर के हमले, फिर मुगलों का शासन, शोषण और प्रपीड़न। जिंदगी जीने की नहीं, ढोने की चीज बनकर रह गई थी। निराशा का अंधकार घनीभूत हो उठा था कि सहसा आवाज आई—

> कीरति भणित भूति भलि सोई,
> सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

—यह तुलसी का स्वर था। उसने निस्सहाय, असमर्थ जनता को राम दिया—कर्त्तव्य का आदर्श, पौरुष का प्रतीक। अन्याय

करना पाप है। अन्याय सहना उससे भी बड़ा पाप। अन्याय करने वाले हर रावण के खिलाफ धनुष-बाण उठाना होगा। न्याय की रक्षा करनी होगी।

पर, 'रामचरित मानस' लिख कर तुलसी ने केवल युग की समस्या का ही समाधान नहीं दिया। देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर शाश्वत मानवता का शृंगार भी किया उसने। उसके राम संपूर्ण मानवीय गुणों के प्रतीक हैं—मर्यादा पुरुषोत्तम। आदर्श भाई, आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श राजा। मनुष्य जिस दिन विकास की सीमा पर जा पहुँचेगा, उस दिन राम बन जायगा।

वाल्मीकि रामायण में नर विकसित होकर नारायण बन गया था। 'मानस' में नारायण ने नर का रूप ग्रहण किया। तुलसी के राम नर-रूप में नारायण हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम ही नहीं, ब्रह्म और महाविष्णु भी हैं। रामायण में उनके इन रूपों की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। निर्गुण और सगुण-जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया गया है।

तुलसी राम-भक्ति के रस में आकंठ डूबा हुआ था। दार्शनिक था, महाकवि था। उसने सत्य को सुंदर बनाकर प्रस्तुत किया।

गंभीरता जब एक साथ सरल और सरस हो उठती है, तब सच्ची कला का जन्म होता है। तुलसी की रचनाएँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। भाव और भाषा का ऐसा सुंदर सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है। अलंकार स्वयं चलकर आए हैं ; आग्रह कहीं नहीं दीखता!

उसने जो भी लिखा, 'अवधी' में लिखा ; बड़ी खूबी के साथ लिखा और इतना लिखा, जितना कोई साधारण व्यक्ति अकेला लिख डालने की कल्पना भी नहीं कर सकता। भक्ति, दर्शन, नीति, राजनीति, समाजनीति, मानवनीति—प्रायः सभी विषय उसकी प्रतिभा का संस्पर्श पाकर धन्य हो उठे। रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, दोहावली, कवितावली, पार्वतीमंगल, जानकी-मंगल, कवित्त-रामायण, रामाज्ञा प्रश्न आदि पचीसों ग्रंथ लिख डाले उसने।

हिंदी के अंचल पर इस भक्त महाकवि ने रामभक्ति की जो गंगा बहाई, वह हिंदी साहित्य के इतिहास में राम-भक्ति-धारा के नाम से विख्यात हुई। तुलसी के पहले और बाद भी, इस धारा में अनेक अन्य कवि हुए, जैसे—केशव, अग्रदास, नाभादास, विश्वनाथ और रघुराजसिंह; रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि।

'रामचंद्रिका' में केशव ने राम के नाम पर अपने पांडित्य का जोर आजमाया, चमत्कार का प्रदर्शन मात्र किया। तुलसी का भावुक हृदय तो तुलसी को ही मिला था। राम की भक्ति भी जैसी तुलसी को मिली, वैसी केशव को कहाँ मिल सकी !

साकेत में मैथिलीशरण गुप्त के राम ने घोषणा की—

"संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
मैं धरती को ही स्वर्ग बनाने आया।

* * *

नर को ईश्वरता प्रदान कराने आया।"

वाल्मीकि रामायण की तरह एकबार फिर मनुष्य अपने गुणों से ऊपर उठकर देवता बन गया। 'साकेत' की सबसे महान् सफलता कैकेई के चरित्र में है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि कुछ पात्रों का चित्रण कहीं-कहीं शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन कर गया है। रामायण की मौन उर्मिला 'साकेत' में आँसुओं की बरसात लेकर आई है। इस वियोगिनी के विस्तृत रूप-चित्रण से काव्य-चरित्रों में उपेक्षिता नारी-पात्रों के प्रति विद्वानों का ध्यान निस्संदेह आकर्षित हो जाता है। लेकिन, सावन-भादो के सजल मेघों से होड़ लेती हुई वे व्यग्र-उदग्र आँखें साकेत के पाठकों को सराबोर नहीं कर पातीं। साथ ही 'मानस' की मौन उर्मिला में भारतीय नारी का शील-सौंदर्य 'साकेत' की चीखती-चिल्लाती उर्मिला से कहीं अधिक सुरक्षित है।

राम-भक्ति-शाखा के अन्य किसी कवि ने ऐसा कुछ नहीं लिखा, जो उल्लेख-योग्य हो। संपूर्ण राम-साहित्य में तुलसी का व्यक्तित्व अकेला है, जैसे विशाल आकाश में अपनी ही दीप्ति से दीपित सूर्य।

"सिहन के लेंहड़े नहीं,
हंसन की नहीं पाँत।"......

★

'निसिदिन बरसत नैन हमारे'

(कृष्ण-काव्य)

बेहोश आधी रात।

यमुना की कल-कल लहरों पर थर-थर काँपता हुआ पूनम का चाँद। तमाल और कदंब के सघन वृक्षों से आच्छादित निर्जन तट। हवा के झोंके। पत्तों की सरसराहट। सारा संसार शयित-शांत।

कि, सहसा वंशी का स्वर फूटा, जैसे रस का निर्झर। दिशाएँ डूब गईं। यमुना के पायल झनकार कर उठे।

माथे पर मोर-मुकुट, कमर में कछनी, गले में माला—वह कोई युवक था, जो आधी रात गए यों पागल-सा वंशी में स्वर भर रहा था।

कि, सहसा झम्-झम्-झम् !!—आभूषणों की झनकार से यमुना का तट मुखरित हो उठा। वंशी की धुन सुन कर युवतियाँ अपने-अपने घरों से दौड़ी चली आईं, मानों चाँद की बारात उतर आई।

स्वर की बरसात थम गई। बेहोश वंशीवाले ने आँखें खोलीं। वह चकित हो रहा। आग्रह के स्वर में उसने निवेदन किया—'यह सब कोई अच्छी बात नहीं। आप अपने-अपने घर लौट जाएँ।' पर, पत्थर पर तीर असर करने से रहा।

हार कर उसने फिर वंशी उठाई। फिर रस की वर्षा शुरू हुई और युवतियाँ मंडल में सजकर थिरक उठीं।

आधी रात, नदी का किनारा, वंशी का मोहक संगीत और चोरी-चोरी मिलना—यह सब कुछ 'कैसा-कैसा' तो लगता है। पर जो सतह पर होता है, वही तह में नहीं होता। इन बातों में ऊपर-ऊपर भौतिक रोमांस की रंगीनी अवश्य दीखती है पर भीतर तह में आध्यात्म की पवित्रता है। आधी रात को, यमुना के तट पर, वंशी में स्वर फूँकनेवाला वह युवक है कृष्ण—साक्षात् परब्रह्म! और, वंशी की पुकार पर बावरी-सी दौड़ पड़नेवाली गोपियाँ हैं, आत्माएँ। और, वंशी है स्वयं योगमाया।

भागवत् पुराण की आध्यात्मिक रहस्य-भरी इस कथा ने ही हिंदी के कृष्ण-काव्य को आधार दिया। और, कवियों ने नाना प्रकार से गोपी और कृष्ण—आत्मा और परमात्मा—के प्रेम को छंदों में बाँध कर रख दिया।

"ललित लवंग लता परिशीलन,
कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंबित कोकिल,
कूजित कुंज कुटीरे॥"

—रस से गीली ये पंक्तियाँ आज से लगभग सात सौ साल पहले महाकवि जयदेव की लेखनी से चू पड़ी थीं। उसने मुख्यतः

संस्कृत में लिखा। राधा-कृष्ण के प्रेम से लबालब गीत-गोविंद संस्कृत में ही है। पर, उसने हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों को दिशा दी, प्रेरणा दी, प्रभावित किया। अतः, एक बार विना जयदेव का नाम लिये हिंदी के कृष्ण-काव्य की चर्चा नहीं की जा सकती।

"एकसरि ठाढ़ि कदम-तर रे, पथ हेरथि मुरारी,
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे, झामर भेल सारी।"

ऐसा कहकर बाट जोहती हुई गोपी की विरह-व्यथा को रूप देने-वाला कवि विद्यापति कदाचित हिंदी कृष्ण-काव्य का पहला कवि था। पर उसने कृष्ण-चरित का आध्यात्मिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। उसके हाथों कृष्ण सामान्य नायक बन बैठा और राधा नायिका। वह रूप और यौवन का कवि था। उसने तन की माया देखी, मन की गहराई नहीं। उसकी दृष्टि स्नान करती हुई कामिनी के मादक सौंदर्य से उलझ कर रह गई—

'कामिनि करए सनाने,
हेरतहिं हृदय हनै पँचवाने।'

उसने राधा-कृष्ण के नाम पर जितना लिख मारा, उतना राधाकृष्ण पर नहीं। सही अर्थ में भक्ति के पद बहुत कम लिखे, और लिखे भी तो शिव, दुर्गा और गंगा के संबंध में ही। पर, एक बात, प्रतिभा ने स्वरूप पा लिया था उसमें। उसने जो भी लिखा, उसकी बारीकी, उसका सौंदर्य शब्दों में नहीं आँका जा सकता।

उसकी रचनाएँ तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) **श्रृंगार-संबंधी**—राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर लिखे गए छंद ।

(२) **भक्ति-संबंधी**—शिव, दुर्गा, गंगा आदि की स्तुति । और,

(३) **काल-संबंधी**—तत्कालीन परिस्थितियों के चित्र ।

गंगा-वाक्यावली, दान-वाक्यावली, तरंगिणी, कीर्तिलता, कीर्ति-पताका और पदावली—ये विद्यापति के कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं । इनमें से कुछ संस्कृत में लिखे गए, कुछ अवहट्ठ में और कुछ मैथिली में ।

कतिपय विद्वानों ने विद्यापति को बंगाली सिद्ध करने का बीड़ा उठा रखा था । पर, अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह कवि हिंदी का है और इसका जन्म मिथिला में हुआ था ।

जीवन की संपूर्ण कोमलता, सरसता और सुंदरता को गीतों के रेशमी धागे में पिरोकर अमर बना डालनेवाला यह कलाकार हिंदी का गौरव है, इसमें संदेह नहीं ।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी ने अपनी मंजिल की आधी राह तय की थी कि एक दिन कृष्ण-काव्य के सागर में ज्वार उठा और आकाश तक जा पहुँचा । हिंदी को सूर का वरदान मिला ।

तन की आँखें संसार को ही देख पातीं हैं ; मन की आँखें तो संसार के उस पार तक पहुँच जाती हैं । सूर अंधा था, पर उसने मन की आँखें पाई थीं । तभी अपनी बंद आँखों से उसने जितना अधिक देखा, उतना दो-दो खुली आँखों से भी कोई न देख सका ।

अंतर में अनुभूति का सागर और कंठ में अमृत की धारा--वह महाकवि ही नहीं, बल्कि महान् संगीतकार भी था। पुष्टि-मार्ग के प्रवर्त्तक गुरु वल्लभाचार्य का स्नेह-स्पर्श पाकर अंतर की अनुभूति कंठ से रागिनी बनकर फूट निकली। उसने अपने-आपको श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया--

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै॥"

बालक श्रीकृष्ण की हर चेष्टा को इस भक्त महाकवि ने अपने शब्दों में उतार कर रख दिया। कहीं कृष्ण सोए-सोए अपने पाँव का अंगूठा चाट रहे हैं—

कर पग गहि अँगुठा मुख मेंलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत॥

और, कहीं यशोदा उन्हें थपकियाँ दे-देकर सुला रही हैं—

"जशोदा हरि पालने झुलावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै॥"

और, वे जब कुछ बढ़ जाते हैं तब—

"सोभत कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किए॥"

यशोदा उन्हें उंगली पकड़ कर चलना सिखाती हैं और वे दो-दो पग पर गिर पड़ते हैं--

"अरवराइ कर पानी गहावत,
डगमगाई :धरनी धर पैयौं।"

कितना स्वाभाविक चित्र है !

बालक स्वाभाव से हठी होते हैं। कृष्ण की बाल-लीला का चित्रण करते समय सूर ने इस बात पर भी ध्यान रखा है। वे कभी 'चंद-खिलौना' माँगते हैं, कभी 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' कह-कह कर मचल उठते हैं।

माता के आँचल की छाया में मचलकर, घुटनों के बल चलकर कृष्ण जब बड़े होते हैं तब जंगल में गायें चराने जाते हैं, दूध-दही की चोरी करते-फिरते हैं। वंशी बजा-बजा कर गोपियों को बुलाना, उन्हें छेड़ना और जब-तब आँखों में आँखें डालकर मुस्कुरा देना उनका दैनिक कार्य-क्रम हो जाता है। देखिए—

"खेलत हरि निकसे ब्रजखोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल, भाल दिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥"

पर, कहीं भी अपने श्रृंगार-वर्णन को सूर ने विद्यापति की तरह अतिशय मांसल अथवा अश्लील नहीं होने दिया है।

वियोग के वर्णन में तो इस महाकवि का स्थान आज भी अक्षुण्ण है। निर्मोही कृष्ण जब मथुरा चल देते हैं, तब जैसे ब्रज में आग लग जाती है। स्वयं विरह में झुलस रही गोपियों को मधुवन की हरीतिमा पर रोष होता है। वे कह उठती हैं :—

"मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग स्याम सुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम तो निलज, लाज नहीं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे?"

और, बरसात की काली रात तो साँपिन बन कर डँस लेती है—

"पिय बिनु साँपिन कारी रात।
कबहुँ जामिनी होती जुन्हैया, डसि उल्टी ह्वै जाति॥"

सावन और भादो-जैसे उनकी आँखों में ही समा गए हैं। आँसुओं की धारा कभी सूखती ही नहीं—

"निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब से स्याम सिधारे॥"

कि, एक दिन उद्धव आ पहुँचते हैं, कृष्ण का संदेशा लेकर; और लगते हैं ज्ञान बघारने। वे कहते हैं—'कृष्ण तो निर्गुण ब्रह्म हैं, सर्वव्यापी हैं, उनसे वियोग कैसा? शोक करने की क्या जरूरत है?' पर, गोपियाँ रहीं भावना, ज्ञान से उनका क्या प्रयोजन? संयोगवश कहीं से एक भौंरा उड़ता हुआ आ जाता है और उसे संबोधित कर वे उद्धव पर वार करने लग जाती हैं। बेचारा ज्ञानी अपना-सा मुँह लेकर भाग खड़ा होता है। भावना के आगे ज्ञान की पराजय होती है, सगुण के आगे निर्गुण झुक जाता है।

भ्रमर को संबोधित कर लिखे जाने के कारण सूर ने इस कथा को 'भ्रमर-गीत' शीर्षक दिया है।

इन सारी बातों को दृष्टिगत रखते हुए सूरदास की रचनाएँ निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) आत्म-निवेदन

(२) बाल-कृष्ण का मनोवैज्ञानिक चित्रण

(३) राधा-कृष्ण के प्रेम से संबंधित संयोग-शृंगार

(४) राधा-कृष्ण के प्रेम से संबंधित वियोग-शृंगार

(जिसके अंतर्गत भ्रमर-गीत आता है ।)

ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य लिखनेवाले कवियों में सूर का स्थान शीर्षण्य है ।

अब तक सूरदास के नाम से कुल सोलह ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं । पर, प्रामाणिक केवल 'सूरसागर' है; शेष या तो इसी के अंश हैं या रूपांतर ।

यह अद्वितीय गीतिकार हिंदी की ही नहीं, विश्व-साहित्य की विभूति है ।

नंददास का स्थान सूर के बाद आता है, पर सूर के ही बाद । औरों ने जो लिखा, वही इस महाकवि ने भी । पर, जैसा इसने लिखा, वैसा औरों ने नहीं । सच्ची प्रतिभा स्वभावतः सामान्य धरातल से ऊपर उठ जाती है ।

'रास-पंचाध्यायी' और 'भँवर-गीत' नंददास के प्रमुख ग्रंथ हैं । 'रास-पंचाध्यायी' में कृष्ण और गोपियों की रासलीला का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है । इसकी भी कथा-वस्तु भागवत से ही ली गई है । भँवर-गीत की कथा प्रायः वही है, जो सूर के भ्रमर-गीत की ।

भाषा पर नंददास का अपूर्व अधिकार था। ऐसी कला-कारिता अन्यत्र दुर्लभ है :—

"नूपुर कंकन किंकिन करतल उपंग मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनी॥"

शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। रस छलक पड़ता है। अलंकार हाथ बाँधे खड़े हैं। 'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया'—यह उक्ति असत्य नहीं।

गोसाईं विट्ठल नाथ ने जिन आठ कवियों पर कृष्ण-भक्ति की छाप लगा कर 'अष्टछाप' की स्थापना की है, उनमें सूर और नंद प्रधान हैं। शेष छः हैं—कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और गोविंद स्वामी। इन सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रजभाषा में ही लिखा।

औरों ने राधा और कृष्ण के प्यार की बात कही। पर, मीरा स्वयं 'दरद-दीवानी' थी। वह दूसरे किसी की बात क्या कहती? उसमें गोपियों की सारी विरह-व्यथा पूँजीभूत होकर साकार हो उठी। जिस प्रियतम के लिए उसने क्या-क्या न सहा, वही निर्मोही निकला। बाट जोहते-जोहते आँखें थक गईं, दिन गिनते-गिनते अँगुलियों की रेखाएँ घिस गईं। फिर भी जब वह नहीं आया, तब वह कराह उठी—

"सूली ऊपर सेज पिया की,
केहि विधि मिलना होय।"

'मीरा कोकिला-सी अपने गिरिधर-गोपाल के गीत गाती रही। वह पृथ्वी पर नहीं, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर, स्वर्ग के कुछ पास थी।'

सत्रहवीं शताब्दी का प्रभात अभी आया ही था कि यह कोकिला पंख पसार कर 'सुदूर शून्य' में उड़ गई।

गीत-गोविंद की टीका, नरसी जी का माहरा, फुटकर पद और राग सोरठ पद-संग्रह—मीराबाई की ये ही कुछ प्रमुख रचनाएँ अबतक उपलब्ध हो सका हैं।

ये सारी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पर, इस ब्रजभाषा पर थोड़ा मारवाड़ी रंग भी है। पद प्रायः राग-रागिनियों में बाँध कर लिखे गए हैं। यत्र-तत्र छंद-दोष हैं। मीरा में कला की रंगीनी और चमक-दमक भले ही न हो, भावना की सचाई जरूर है और यही पाठक के हृदय को सबसे अधिक छूती है।

श्रीकृष्ण के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करनेवाले मुसलमान कवियों में रसखान का स्थान सबसे ऊँचा है। विषय-वासना की ओर उपट कर बहनेवाली जीवन-धारा एक दिन आघात पाकर सहसा ब्रह्म की ओर मुड़ गई। रसखान ने विट्ठलनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया।

जिस परब्रह्म को लोग खोज-खोज कर हार गए और नहीं पा सके, उसे रसखान ने कुंज में छिप कर चोरी से राधा का पाँव पलोटते पकड़ लिया—

"देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में,
बैठो पलोटतु राधिका-पायग ।"

प्रेमी की अनुभूति जितने सरस शब्दों में रसखान ने लिखी, वैसी बहुत कम लोग लिख सके।

उसने मुख्यतः कवित्त और सवैए लिखे। ब्रजभाषा का बड़ा ही व्यवस्थित रूप मिलता है उसकी रचनाओं में। 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान' इसी रससिद्ध कवि की रचनाएँ हैं।

'इन मुस्लिम कविजनन पर कोटिक हिंदू वारिए'

गंग, रहीम और वीरबल; दीहल, गदाधर भट्ट, गोविंद दास और हरिदास—ऐसी और न जाने कितनी प्रतिभाओं ने कृष्ण के चरणों में अपने काव्य-पुष्प अर्पित किए। महत्त्व इनका भी कम नहीं। 'तुलसी का पत्ता छोटा कौन, बड़ा कौन।'

पर, निस्संदेह यह हिंदी के कृष्ण-काव्य का पूर्ण-विराम नहीं। रात के बाद फिर सुबह होती है।

कभी यमुना के निर्जन तट पर, पूनम की आधी रात में, नृत्य-निरत गोपियों के बीच उस अल्हड़ वंशीवाले ने जो तान भरी थी, उसकी धीमी-धीमी स्वर-लहरी आज भी वायुमंडल में गूँज रही है। हरिऔध का 'प्रियप्रवास', रत्नाकर का 'उद्धवशतक', मैथिलीशरण गुप्त का 'द्वापर' और श्री द्वारिकाप्रसाद का 'कृष्णायण' इस बात के प्रमाण हैं।

भक्ति-काल : एक झलक

★ **विस्तार**—सं० १३७५--१७०० तक।

★ **परिस्थितियाँ**—पहले ही जनता का पर्याप्त शोषण हो चुका था। मुगलों के आक्रमण और शासन ने उसे और भी क्षत-विक्षत कर दिया। आदि काल से चली आती हुई विचार-परंपरा इन परिस्थितियों का योग पाकर भक्ति-काल को जन्म देने में समर्थ हुई।

★ **भक्ति-काल का साहित्य** निम्नांकित शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है :—
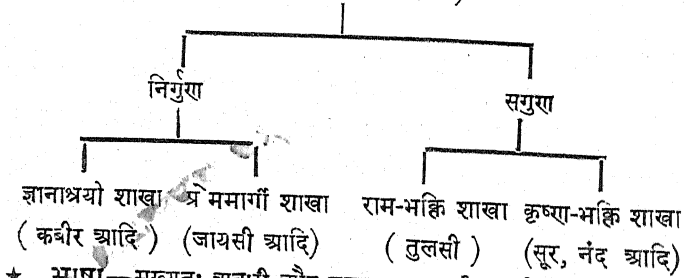
★ **भाषा**—मुख्यतः अवधी और ब्रजभाषा। कबीर आदि ने आम-फहम भाषा में लिखा, जिसे 'सधुक्कड़ी' भाषा की संज्ञा दी गई है।

★ **मुख्य कवि और ग्रंथ**—

१. कबीर — साखी, बीजक और रमैनी।
२. जायसी — पद्मावत और अखरावट।
३. तुलसी — रामायण, विनयपत्रिका आदि।
४. सूर — सूरसागर।

★ एक साथ भाव-पक्ष और कला-पक्ष का ऐसा उत्कर्ष अन्य किसी युग में नहीं। अतः, यह युग है **हिंदी साहित्य का 'स्वर्णयुग'**।

ठहर पथिक मधुरस पी ले !

[रीति युग]

ठहर पथिक,
मधु-रस पी ले !

(रीति-काल)

बाअदब, बामुलाइजा होशियार ! बादशाह सलामत, शाहंशाहे-हिंदोस्तान ऐवान में तशरीफ ला रहे हैं !!.......

ताल और लय के साथ थम-थम कर ऊँची उठती हुई आवाज़ क्रमशः क्षीण होती-होती शून्य में खो गई। निस्तब्धता छा गई।

एक खास अंदाज से तौल-तौल कर कदम रखते हुए बादशाह ने प्रवेश किया ! उनका शरीर सुवर्ण-खचित वस्त्रों से सुशोभित था। वक्ष पर बहुमूल्य रत्नों की मालाएँ लोट रही थीं। इत्र में डूबे हुए अंगों से निःसृत सुगंध की मादकता वातावरण में उन्माद भर रही थी।

कतारों में सजकर बैठे अमीर-उमरा सम्मानार्थ उठ खड़े हुए। कवियों और कलाकारों ने सर झुका लिए। बादशाह स्वर्ण-सिंहासन पर आ बैठे। फिर सबने स्थान ग्रहण किया।

सामने दुग्ध-फेनोज्ज्वल स्फटिक आँगन में नर्तकी आ खड़ी हुई। काली घुँघराली अलकें, 'अमिय हलाहल मद भरे' नैन, झीने वस्त्र से झाँकते हुए अंग-प्रत्यंग—रूप और यौवन का रस छलक रहा था। तन के दर्पण में प्रतिबिंबित हो-होकर आभूषणों की द्युति द्विगुणित हो रही थी।

बादशाह की आँखों में सुरूर छा गया। उनकी प्यासी दृष्टि नर्तकी की अलकों से उलझकर आँखों में डूब गई, कपोलों से फिसल कर पीन पयोधरों में धँस गई। सौंदर्य की प्रतिमा के होठ तनिक मुस्कुराए और कपोल आरक्त हो उठे। शिराएँ झनझना उठीं और आँखें झुक कर झिप गईं। फिर अंग-अंग थिरक उठे। पैरों में लिपटे नूपुर साग्रह बोल उठे—

"रुन-झुन, रुन-झुन!
छुम छनन्-छनन्!! छुम-छनन्!!......"

भुजाएँ शून्य में भाव-चित्र अंकित करती हुई थिरक उठीं। नूपुर-ध्वनि वीणा और मृदंग के संगीत से लिपट कर क्रमशः घनीभूत होती हुई ऊपर उठने लगी। वातावरण में उल्लास भर गया।

'मरहबा! मरहबा!!'........हलाहल की घूँट कंठ के नीचे उतारते हुए बादशाह बोल उठे।

'वाह! वाह!!'...अमीरों और सरदारों की प्रशंसा-सूचक ध्वनियाँ बादशाह का अनुसरण कर उठीं।

नर्तकी ने सर झुका कर विनम्र स्वीकृति दी; उन्माद भर देनेवाली अदा से एक बार बादशाह को देखा और थिरक उठी। वातावरण में आलोड़न-सा उत्पन्न करता हुआ, ध्वनियों का निर्झर फूट पड़ा।

"साक़ी !...." बादशाह की प्यास ने इशारे किए और जाम सामने था। पर, जाम लेना भूल कर, वे क्षण भर को साक़ी की निगाहों में खो गए।

"ता थेई ! ता थेई !!....धा धा-त्रिकिट-धा ! कत्ता-तूना !!... रुन-झुन ! रुन-झुन !! छुम-छनन्-छनन् ..।

नर्तकी के पाँव दीख नहीं पड़ रहे थे। गोरे अंगों की 'गुराई' 'चपला-निकाई-सी' चमक-चमक उठती थी। लगता था, सागर की फेनिल लहरों पर पूनम का चाँद असंख्य-असंख्य होकर आँखों के आगे झलमल कर रहा हो।

कि, सहसा वेग से चक्कर खाती हुई नर्तकी के गतिशील चरण एक साथ कई आघात देकर सम पर आ गिरे। बाजों की झंकार टूट गई। नर्तकी का झीना आँचल शरीर से सरक कर भूमि पर आ गिरा। ललाट और कपोल पर पसीने के मोती ढलमल कर उठे।

कायिक सौंदर्य्य को नज़रों से सहलाते हुए, बादशाह बोल उठे— 'शाबाश !....' और, एक बहुमूल्य रत्नहार नर्तकी के दामन पर आ गिरा। फिर उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए कोलाहल के बीच राज-कवि उठ खड़े हुए। गौरवर्ण, उन्नत ललाट, रेशमी वस्त्र और

मोतियों की माला से मंडित शरीर—हर किसी की दृष्टि उनके देदीप्यमान मुखमंडल पर केंद्रित हो गई। राजकवि ने एक खास अंदाज़ से हाथ उठा कर कहा—

धरी जब बाहीं, तब करी तुम 'नाहीं',
पाँय दियौ पलिकाहीं 'नाहीं-नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में 'नाहीं', पट खोलत में 'नाहीं'
कबि बोलत उछाही लाख, भाँतिन लहाई हौ॥

और, बादशाह नर्तकी की आँखों में आँखें डाल कर बीच ही में बोल उठे—बहुत खूब!...बोलत में 'नाहीं', पट खोलत में 'नाहीं'!! ....वाह!......

और, कवि के आह्लाद का पारावार न रहा।

वाणी में उमंग भरकर उन्होंने कहा—

चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन बिलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह
'हाँ' तें भली 'नाहीं' सो कहाँ ते सीखि आई हौ॥

कवि के अंतिम कुछ शब्द 'वाह-वाह' के कोलाहल में डूब गए। बादशाह उमंग में भरकर चिल्ला उठे—'वज़ीरे आज़म! हम खुश हुए। राजकवि को एक हजार मुहरें भेंट की जायँ।' और, राजकवि जैसे निहाल हो गए। आभार से उनकी गर्दन झुक गई।

*　　　　*　　　　*

मंदिर का भीतरी भाग। राधा और कृष्ण की स्वर्ण-प्रतिमाएँ। धूप-दीप, पत्र-पुष्प एवं नाना प्रकार के भोगों की सुगंध से सुवासित वातावरण।

फागुन का महीना। होली का उत्सव। अबीर और गुलाल के बादल। रंग की बरसात।

देवदासी के नूपुरों की झंकार से मंदिर का कोना-कोना मुखरित हो उठा। वंशी के स्वर पर थिरकते हुए मांसल अंगों से विद्युत-लहरियों का संचार-सा होने लगा। भक्त ध्यान-मग्न थे; पर उनका ध्यान राधाकृष्ण की प्रतिमाओं पर न होकर, देवदासी के तन-पराग में डूबी थीं। मंदिर का प्रधान पुजारी मसनद के सहारे उठँग कर, आनंद ले रहा था। उसकी आँखें आधी खुली थीं, आधी बंद।

और, ज्यों ही देवदासी के नृत्य-निरत चरणों ने विराम लिया, साधुवाद की झड़ी लग गई। प्रधान पुजारी एक प्यास-भरी दृष्टि से देवदासी को देख उठा। नयन मिले और मुस्कान के हरसिंगार चुपचाप झर पड़े।

भक्त-कवि से रहा न गया। आत्म-विस्मृति की-सी अवस्था में वह लड़खड़ाता उठ खड़ा हुआ। देवदासी की ओर एक याचना-भरी दृष्टि डाल कर, उसने भगवान को श्रद्धांजलि अर्पित की—

धाइ धरी मोहन मयंकमुखी प्रह्लाद,
अंक में भरत कड़-कड़ चूमि कड़की।

चारो तनी तड़की मसकि आँगि दरकी,
हँसति साड़ी सरकी, रही न सुधि घर की।

और, 'साधु ! -साधु !!...' की ध्वनि से मंदिर का कोना-कोना गूँज उठा।

देवदासी के कपोल आरक्त हो उठे। कवि की बाछें खिल उठीं। पुजारी जल उठा।

राधा और कृष्ण की स्वर्ण-प्रतिमाएँ ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं—तटस्थ, मौन, निर्विकार !

*   *   *

जेठ का महीना। चिलचिलाती दुपहरिया। लू के थपेड़े। निर्जन खेत, दुर्बल बैल, कंकाल-सा किसान।

पशु के पद-चिह्नों पर मनुष्य चल रहा था।

उसका खून शराब बन कर शाही प्यालों में छलक रहा था। उसका पसीना मोती बन कर महलों में चमक रहा था। उसकी हस्ती रंग और गुलाल बन कर मठों और मंदिरों में उड़ रही थी। उसकी साधना का पुरस्कार राजकवि पा रहे थे। उसकी मिहनत की कमाई सामंत और महंथ लूट रहे थे।

पर, खेत में वह अकेला था। भूख से पेट-पीठ सटकर एक हो रहे थे। आँखों के आगे अंधकार छाया था। हठात् लड़खड़ा कर वह भूमि पर जा गिरा। पर, उसकी मिहनत पर बसंत मनानेवाले

भक्तों और महंथों ने अपने भगवान से उसके लिए दुआएँ नहीं माँगीं। पक्षी की पीड़ा पर रो उठनेवाले आदि कवि की संतान आदमी की पीड़ा पर मौन रह गई।

* * *

वह मुगलों का शासन-काल था। झोपड़ियों को लूट कर महल सजाए जा रहे थे। शाही दरबारों से विलासिता के गंदे नाले फूट निकले, और असंख्य-असंख्य धाराओं में विभक्त होकर देश को निमग्न करने लगे। समाज डूबा, धर्म डूबा, संस्कृति भी डूब गई। फिर साहित्य कैसे शेष रह जाता ? वह तो युग और समाज का चित्र होता है !

तभी उस युग के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है—शृंगारिकता। भगवान श्रीकृष्ण विलासी बादशाह की अनुकृति बनकर रह गए। राधा को कवियों ने नायिका बनने पर मजबूर कर दिया। गोपियों की अपार सेना भी इस धर्म में दीक्षित हो गई। भगवान के मंदिर शाही महलों से होड़ लेने लगे। धर्म का दामन थाम कर शृंगार चल निकला। अलक, पलक, अधर, कपोल, चिबुक, कुच, कटि और नितंब के वर्णन से साहित्य लबालब भर गया। राष्ट्र के उन्नायक कहलानेवाले कवि नायिका-भेद, चुंबन, परिरंभन और सुरति के सुख पर न्योछावर हो गए। बादशाहों को खुश कर, पुरस्कार प्राप्त करने के लिए यह जरूरी था

जीवन का सत्य और देश उपेक्षित रह गया। नंगी, भूखी जनता उपेक्षित रह गई। आश्रयदाताओं के नमक का सरीअत देनेवाले कवि अपनी मा के नमक का सरीअत देना भूल गए।

प्रकृति की सुंदरता पर रीझने के लिए उनके पास न हृदय था, न समय। बेचारी उनकी काम-भावना को उद्दीप्त करने का साधन मात्र बन कर रह गई।

नायिका के सुंदर अंगों के वर्णन के लिए उपमान बनाकर, इन कवियों ने कहीं उसका सम्मान किया, कहीं अपमान। और, वह सब चुपचाप सहती रही; क्योंकि यह शाही मर्जी थी।

मुगल दरबारों की सजावट, आभूषणों और नूपुरों की झंकार ने उस युग के कवि को पराभूत कर लिया। स्वभावतः कविता अलंकार और झंकार से भर गई; 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा। 'वस्तु' का स्थान 'रीति' ने ले लिया। तभी विद्वानों ने इस युग को 'रीति-युग' की संज्ञा दे डाली।

प्रदर्शन की प्रवृत्ति, तत्कालीन जीवन के खोखलेपन में, गहराई तक पैठ गई थी। साहित्य में यह प्रवृत्ति आचार्य कहलाने की हवस बन कर प्रकट हुई। कवि का काम कविता करना है; कविता के अंगों और उपांगों पर विचार करना नहीं। पर, इस युग का कोई कवि बाज न आया। हर किसी ने रस का 'पोस्टमार्टम' कर डाला, अलंकारों के गलत या सही लक्षण और उदाहरण दे डाले। नतीजा हुआ, 'दुविधा में दोऊ गए, माया मिली न राम'।

इस युग का सारा साहित्य इन्हीं तत्त्वों से भरा पड़ा है।

*　　　　*　　　　*

तब सत्रहवीं शताब्दी का दिनमान ढल रहा था। जयपुर का राजमहल, पतन की क्रमशः घनीभूत होती हुई छाया में, अस्त होता जा रहा था। राजा नई रानी के रूप और यौवन में डूबे थे। काठ को भेदनेवाला भ्रमर कली की पंखुड़ियों में बँधा था। राजश्री रूठ कर चली जा रही थी।

कि, सहसा राजमहल के सिंह-द्वार पर एक पथिक आकर रुका। शरीर पर मिरजई, सर पर मुरेठा और ललाट पर तिलक। थक कर चूर हो रहा था; फिर भी आँखें चमक रही थीं; मुखमंडल से तेज-सा फूट रहा था।

द्वारपाल उपेक्षा न कर सका! पूछा—"क्या चाहते हो महाराज ?"

"महाराज के दर्शन !"—पथिक ने छोटा-सा उत्तर दिया और द्वारपाल मुस्कुराया—

"वह इतना आसान नहीं।"

"क्यों ?"

"महाराज रनवास में बंद हैं।"–द्वारपाल के स्वर में निराशा थी।

इस बार फिर जब पथिक ने पूछा 'क्यों', तब वह झल्ला उठा। "नई रानी का प्रेम"........कहता-कहता हठात रुका। फिर बोला—"महाराज! हर 'क्यों' का उत्तर नहीं दिया जा सकता।"

पथिक ने परिस्थिति को समझा; उसके ललाट पर चिंता की रेखाएँ खिंच आईं। बहुत सोच-विचार कर कागज के एक टुकड़े पर उसने लिखा—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

और, किसी तरह, अपना यह संदेशा, महाराजा के पास भीतर भिजवाया।

उसे पढ़कर वे जैसे नींद से जाग उठे। सूर्य की रश्मियों का संस्पर्श पाकर पंखुड़ियों के बंधन ढीले पड़ गए। भ्रमर की चेतना लौटी।

पथिक ससम्मान भीतर बुलाया गया। अशर्फियों की थैली भेंट करते हुए राजा जयसिंह ने कहा—"महाकवि! हम तुम्हारी प्रतिभा के कायल हैं। वही होगा, जो तुम चाहते हो। पर अब वापिस न जा सकोगे। आज से तुम हमारे राजकवि हुए।"

और, राज-सम्मान की स्वीकृति में, पथिक ने कृतज्ञतापूर्वक सर झुका लिया।

जयसिंह के उस राजकवि ने बिहारी के नाम से विख्यात होकर हिंदी-साहित्य को गौरवान्वित किया।

कहते हैं, राजा की प्रेरणा से उसने सात सौ दोहे लिखे—रस भरे, मिठास भरे, रंगों में उन्माद भर देनेवाले। और, राजा ने उन दोहों पर अशर्फियाँ लुटा दीं।

रीति-युग का कवि होने के नाते बिहारी ने भी, नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन एवं शृंगार-चेष्टाओं के चित्रांकन में, अपनी प्रतिभा का रंग सबसे अधिक खर्च किया।

उसकी नायिका के रोम-रोम से रूप की किरणें फूटती हैं। अमावस्या की काली रात हो, वह हो और दीप न हो, तो हर्ज नहीं, क्योंकि—

अंग-अंग नग जगमगत, दीप-सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

जवानी उसके तन-मन में उफान खा रही है—

अपने तन के जानि कै जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब को, बड़ो इजाफा कीन॥

एक दिन नायक की आँखों से उसकी आँखें उलझ पड़ीं, और दुनिया के सारे रिश्ते टूट गए। अपने-बेगाने छूट गए। हृदय में प्रेम की गाँठ पड़ गई।—

दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति॥

फिर 'भरे मौन में नैनन ही सों बात' होने लगी। प्रेम-पत्र आने-जाने लगे। दूतियों की चिंता बढ़ गई, दायित्व बढ़ गया। छुप-छुप कर अभिसार का व्यापार चलने लगा।

त्रिबली, नाभि दिखाइ के, सिर ढकि, सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि॥

पर, दुनिया बड़ी निठुर है। प्रेम करनेवाले दो हृदयों के बीच दीवार बन कर खड़ी हो जाती है। छुप-छुपकर मिलना भी जब संभव न रह गया, तब नायिका के नैनों में सावन-भादो समा गए।

गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असीस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार॥

पर, आँखों के पानी से कहीं दिल की आग बुझी है? सखियाँ उपचार कर हार गईं; और, जलन जाने से रही। दर्द तो तब दूर हो, जब "बैद सँवलिया होय"।

कोटि जतन कोई करौ, तन की तपनि न जाय।
जौ लौं भीजे चीर लौं, रहै न प्यौ लपटाय॥

कलम तोड़ दी कवि ने। रूप और शृंगार-चेष्टाओं के ऐसे सजीव चित्रण किसी भी साहित्य में कम ही प्रस्तुत किए जा सके। वियोग के वर्णनों में कहीं-कहीं हलकापन अवश्य आ गया है, पर युग के प्रभाव-स्वरूप।

नीति और भक्ति-संबंधी कुछ छंद भी उसने कहे, हालाँकि वह उनका अपना क्षेत्र न था। पर दीप जहाँ भी जलेगा, प्रकाश देगा ही।

दोहे की लघु-परिधि में ज्यादा उछल-कूद मचाने की गुंजाइश नहीं होती। शब्दों की फिजूलखर्ची वहाँ नहीं चलने को। भाषा की समास-शक्ति के साथ-साथ, कल्पना की समाहार-शक्ति, उसकी

सबसे बड़ी शर्त्त हैं। फिर भी, जाने क्यों, बिहारी ने दोहे को ही चुना और ऐसा निबाहा, जैसा किसी ने नहीं। किसी ने कहा है—'कलेजे में जो चुभ जाए, उसी को तीर कहते हैं।' बिहारी के दोहे तीर हैं—विष-बुझे नहीं, रस-बुझे; हृदय को नहीं, 'सकल शरीर' को बेध डालनेवाले—

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटो लगैं, बेधैं सकल सरीर॥"

ब्रजभाषा बहुतों ने लिखी, पर बिहारी की तरह सँवारा किसने उसे?

अन्य रीत-कालीन कवियों की तरह अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उसने नहीं लिखा। फिर भी, अलंकार हर कदम पर हाथ बाँधे खड़े हैं। शब्द-शब्द के अंतर से झंकार फूटा पड़ता है। विद्वानों की राय है कि बिहारी अगर चाहता, तो इन्हीं सात सौ दोहों को इस क्रम से सजा कर रख सकता था कि एक लक्षण-ग्रंथ तैयार हो जाता और आचार्यों की तालिका में उसका नाम दर्ज हो जाता। पर, उसने वैसा करने की मूर्खतापूर्ण बुद्धि-मानी नहीं की।

बिहारी ने मात्र सात सौ दोहे लिखे, जो बिहारी-सतसई के नाम से प्रसिद्ध हुए। पर, मात्र इतना लिखकर, इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेना बड़ी बात है। महत्त्व परिमाण का नहीं, गुण का होता है।

आज के छपास-पीड़ित कवियों के लिए बिहारी-सतसई का यह आदर्श निश्चय ही अनुकरणीय है।

* * *

आज से लगभग दो सौ साल पहले की बात है। इटावा में लालपुरा के आस-पास एक छोटा-सा गाँव था—स्वच्छ और रमणीक। यमुना उसके पाँव पखारती, मलय-पवन चँवर डुलाता। उस गाँव में एक किशोर रहा करता था—गौरवर्ण, इकहरा शरीर, रेशम-से बाल और गहरी-नीली आँखें। वह कवि था।

अपनी कुटिया में, झरोखे पर खड़ा। वह यमुना का दृश्य निहारा करता। जब साँझ होती, नदी-तट पर आ बैठता। विदा होती हुई साँझ के नैनों से काजल ढलने लगता। तमाल और कदंब के नाचते-थिरकते पात से छुप-छुप कर, छन-छन कर चाँदनी आती और उसके अंग-अंग से लिपट जाती। यमुना की लहर-लहर पर चाँद थिरक उठता। वह विभोर हो जाता ; पलकें झिप जातीं। पर जब पैरों की आहट, चूड़ियों की झंकार, घड़े भरने की ध्वनि और 'खिल-खिल ! खिल-खिल !!' से यमुना का निर्जन तट मुखरित हो उठता, उसकी तंद्रा टूट जाती। वह अपनी कुटिया में लौट आता। दीप के मद्धिम प्रकाश में रात गए गुनगुनाता रहता ; लेखनी अविराम दौड़ती रहती।

और, इस तरह, न जाने, कितने दिन बीत गए ; लेखनी चलती रही, दीप जलता रहा। और, मात्र सोलह साल की अवस्था में वह

किशोर कवि दो-दो कृतियों का पिता बन बैठा। 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' उसने लिख डाले।

पर, उस काव्य के युग में भी तो, जीवन, काव्य से अधिक, गद्य ही ही था—स्वप्न से अधिक, संघर्ष। संसार ने कवि को प्रशंसा दी—रोटी नहीं। रोटी की खोज में वह उत्तराखंड के राज-पथों और बीथियों की खाक छानता फिरा, पर खाक से ज्यादा कुछ हाथ न आया। आज़मशाह, भवानीदत्त, कुशलसिंह, भोगीलाल और अकबरअली खाँ—इन आश्रयदाताओं ने उसे चाहा और सराहा, पुरस्कृत भी किया। पर पुरस्कार से कहीं पेट भरता है? वह डोलता फिरा—मगध, मालवा, आभीर और करेल से लेकर भूटान और कश्मीर तक। पर, उसे अपने यात्रा-पथ पर कहीं एक भी वट-वृक्ष न मिला; दोनों ओर ताड़-ही-ताड़ खड़े थे, जिनकी छाया का कोई भरोसा नहीं।

पर, तूफान में भी साधना का दिया जलता रहा। स्वाभिमान की लौ डोली नहीं। भरतपुर के राजा ने एक दिन कवि को आमंत्रित किया। आग्रह किए जाने पर उसने कुछ छंद सुनाए। राजा ने फिर अनुरोध किया। पर, कवि ने कहा—"अब सरस्वती की इच्छा नहीं।" लक्ष्मी इसे अपना अपमान समझ बैठी। राजा बोला—"हमने प्रत्येक छंद पर एक-एक लाख मुद्राएँ दान करने का निश्चय किया था। पर, आप हैं कि अप नेही पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने पर तुले हैं।" सरस्वती के स्वाभिमान को ठेस लगी। वैराग्य के

कुछ छंद सुनाकर कवि ने राजा के धनाभिमान को ललकारा। फिर बढ़ चली कहानी। दोनों ओर से व्यंग्य के बाण चोट करने लगे। बात-ही-बात में कवि कह उठा--

पीतांबर फाट्यो भलो, साजो भलो न टाट।
राजा भयो तो का भयो, रह्यो जाट के जाट ॥

और, जैसे आग में घी पड़ा। लक्ष्मी राज-दंड लेकर टूट पड़ी। कवि भरतपुर की सीमा छोड़ कर भाग निकला।

जीवन के काँटों-भरे पथ पर चलते-चलते उस भावुक कवि के चरण क्षत-विक्षत हो उठे। अपमान के जलते थपेड़ों में स्वाभिमान झुलस कर रह गया। थका-हारा, संसार के कटु अनुभवों से भरपूर, वह अपनी कुटिया में लौट आया। तिक्तता और विरक्ति से मन भर गया था ; वह जैसे खुद से बोल उठा—

अपनी बड़ाई जाहिं भावै सो हमें न भावै।
राम की बड़ाई सुनि देयगो सो देयगो ॥

वह था हिंदी का सुप्रसिद्ध कवि 'देव'।

संसार ने उसे उपेक्षा और प्रताड़ना दी। उसने संसार को 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' दिए। भवानी-विलास, रस-विलास, प्रेम-चंद्रिका, राग-रत्नाकर और प्रेम-पचीसी-जैसे पचासों ग्रंथों की रचना उसने की।

लक्ष्मी के लाड़लों से उसकी न बनी, पर वह युग ही उनका था। और, 'देव' था, उस युग का प्रतिनिधि कवि। स्वभावतः उसकी कृतियाँ शृंगार से लबालब हैं।

दरबारों में उसने सौंदर्य और विलास की मूर्तियाँ देखी होंगी— स्वर्णाभूषणों और मणियों से जगमग। तभी जब अपनी नायिका के चित्र अंकित करने बैठा, रेखाओं में उस छवि का रंग ढल गया और रेखाएँ बोल उठीं—

> तारा-सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिल होति,
> मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
> आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लागै,
> प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सों लगत चंद॥

एक दिन, नायिका ने नायक की 'सुजस कहानी' सुन ली। फिर तो दिल हाथों से छूट गया। दिन का चैन गया। रात की नींद गई —

> जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कला निधान!
> कान पड़ी वाके कहुँ सुजस कहानी-सी।
> तब ही ते देव देखी देवता-सी हँसति-सी!
> रीझति-सी, खीझति-सी, रूठति, रिसानी-सी।
> छोटी-सी, छली-सी, छीनलीनी-सी, छकी-सी छिन!
> जकी-सी, टकी-सी, लगी थकी थहरानी-सी।

बीधी-सी, बँधी-सी, विष बूढ़ित बिमोहित-सी।
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी-सी।

और, एक दिन जब आँखें नायक के सौंदर्य-रस में डूब गईं, उबरना मुश्किल हो गया। कवि ने कहा—

देव कछू अपनो बसना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

सपने में एक दिन उसने देखा कि आकाश में बादल उमड़ आए हैं। जल-परियों के नूपुर बज रहे हैं। और, ऐसे में घनश्याम आकर कह रहे हैं कि 'चलौ झूलिबे को आज'। पर, बीच ही में निगोड़ी नींद टूट गई। आँखों में आँसू भर आए।

झहरि-झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि-घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मोसों 'चलौ झूलिबे को आज'
फूलि ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई उठि गई से निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसू ह्वै दृगन में॥

वियोगिनी की आँखों से ढलनेवाले आँसुओं का चित्रण करता हुआ कवि कह उठा—

बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात।

कविता हृदय से निकलती है, हृदय में समा जाती है। देव के छंदों की मर्मस्पर्शिता का यही रहस्य है। बिहारी के दोहों में चमत्कार भले ही हो, यह गूँजनेवाला प्रभाव कहाँ ? देव का शृंगार कोरी विलासिता नहीं ; उसमें प्रेम की गहराई है। विलासमय राज-दरबारों से दूर-दूर रह पाने के कारण ही, कदाचित ऐसा संभव हो सका।

कवि की भक्ति और नीति-संबंधी रचनाओं में भी तन्मयता की कमी नहीं। शब्दों की सहज सरलता और सुकुमारता दर्शनीय है।

पर, आचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा कदाचित देव में बिहारी से अधिक थी, जो श्लाघ्य नहीं।

*   *   *

वह सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की संधि-वेला थी, जब स्वरों में अपने रस-मग्न मन की कामना उड़ेलकर कोई गा उठा—

> "ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु,
> ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै।"

उसके संगीत-भरे शब्दों की झीनी कंचुकी से यौवन की व्यग्रता बोल उठी—

> "केलि कै राति अघाने नहीं,
> दिन ही में लला पुनि घात लगाई।"

यह रीति-काल के सुप्रसिद्ध कवि 'मतिराम' का स्वर था। उसकी माधुरी में छक कर सारा मधुवन झूम उठा। हृदय की सच्चाई जब

निरावरण होकर सामने आती है, मन मुग्ध हो उठता है। मतिराम के 'ललित ललाम' और 'रसराज' पर कौन मुग्ध न हो उठेगा ?

'तिल-तिल नूतन' होनेवाले सौंदर्य को शब्दों की जड़ लघु सीमा में बाँध लेना कठिन काम है। पर, प्रतिभा असंभव को भी संभव कर देती है।

* * *

वयःसंधि-प्राप्त सुंदरी का चित्र उतारने को जब 'रसलीन' की तूलिका उठी, तब ठिठक कर रह गई, क्योंकि—

"तिय-सैसव-जोबन मिले,
भेद न जान्यो जात।"

पर, कलाकार हारा नहीं। रेखाओं का जाल। रंगों के छींटे। सौंदर्य फिसलकर दूर जा निकला—जैसे साँझ का सूरज। तूलिका घूम पड़ी; सुंदरता भाग चली। सुंदरता भागती रही, तूलिका रंगों और रेखाओं का जाल लेकर पीछा करती रही। और, जब कलाकार तट पर आया, उसके जाल में रंग-विरंगे चित्र थे—जीवन और यौवन से पूर्ण, तरल एवं चंचल।

"चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढ़ि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धर्‌यो चहत, वक्षस्थल में आनि।।"

कवि ने कहा—अपनी सुंदरता पर अभिमान करने वाला चाँद हरबार शृंगार कर आकाश में उदय होता है। पर, नायिका के मुख की सुंदरता के आगे उसे मुँहकी खानी पड़ती है। वह दिन-प्रति-दिन घटता हुआ, अमावस्या की गोद में अस्त हो जाता है—

"कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि मास मास कढ़ि आय।
तुव मुख-मधुराई लखे, फीको परि घटि जाय॥"

'सेत, स्याम रतनार' आँखों में एक साथ 'अमिय, हलाहल, और मद' के दर्शन कर कवि जिया, मरा, और झुक-झुककर झूम उठा—

"अमिय, हलाहल, मद भरे; सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत; जेहि चितवत इकबार॥"

रूप के रस में लीन होकर वह सैयद गुलाम नबी से 'रसलीन' बन बैठा। उसके दोहे बिहारी से कम चुटीले नहीं। 'रस-प्रबोध' और 'अंग-दर्पण'-जैसे ग्रंथों की रचना कर, इस मुसलमान कवि ने हिंदी की जो सेवा की, वह अभिनंदनीय है।

पर, कविता तो आहों से उपजी थी, आँखों से बह निकली। जब अट्ठारहवीं शताब्दी का अस्तित्व कुछ घना हुआ, उसके बीच से एक महान् प्रतिभा का आविर्भाव हुआ, जिसकी वेदना आँखों से बह चली और रीति-युग का दामन भींग उठा—वह था 'घनानंद'।

दिल्ली का शाही दरबार उसे मीरमुंशी के रूप में पाकर धन्य हो उठा। पर, पाना जितना मुश्किल होता है, खो देना उतना ही आसान। कुचक्रियों ने बादशाह के कान भर दिए और कवि दरबार में बुलाया गया। उससे गाने की फरमाइश की गई। पर, संगीत शाही हुक्म का अपमान करता-सा नज़र आया। बादशाह की भौंहें तन गईं। कुचक्रियों ने आग में घी डालते हुए कहा,

ये अपनी प्रेमिका सुजान के अतिरिक्त अन्य किसी के सामने नहीं गाते। और, सुजान बुलाई गई। कजरारी घटा को देखते ही मयूर के अंतर का संगीत मचल उठा। घनानंद ने गाया, और ऐसा गाया कि लोक-मर्यादाएँ बह गईं। दरबार झूम उठा। बादशाह का क्रोध भी मंत्र-मुग्ध हो रहा। पर, ज्योंही बीन का संगीत थमा, शाही-क्रोध ने फन फैलाया। बादशाह के ध्यान में अब आया कि गाते समय उसका रुख 'सुजान' की ओर था, पीठ उसकी ओर। और, दिल्ली की राजसत्ता फुँफकार उठी—'घनानंद! अभी राजधानी की सीमा से बाहर निकल जा। फिर लौट कर आने की हिम्मत न करना।' और, दरबार में आतंक छा गया। सभी चुप साधे बैठे रहे।

कवि धीरे से उठा और सुजान के संमुख आ खड़ा हुआ। बोला—'सुजान! मैं दुनिया की परवाह नहीं करता। पर, तुम तो साथ दोगी? तुम होगी, तो वन भी नंदन-कानन हो उठेगा।' पर, सुजान वेश्या जो थी!

प्रेम जब लोक की ठोकर खाता है, परलोक की ओर मुड़ जाता है। घनानंद ने वृंदावन की राह ली।

पर, दुर्भाग्य जब एक बार प्यार कर लेता है, प्रिय का दामन नहीं छोड़ता। संवत् १७९६ में नादिरशाह की सेना मथुरा तक जा पहुँची और लोगों ने उसे काफी धन पाने की झूठी आशा दिला कर घनानंद के पास भेज दिया। वह बादशाह का मीरमुंशी रह चुका था न! सिपाहियों ने उसे आ घेरा और 'ज़र! ज़र!!

जर !!' कह कर लगे चिल्लाने। पर, वह तो जर (धन) की छाया छोड़ कर रज की शरण में आ चुका था। वृंदावन की तीन मुट्ठी धूल उठा कर उसने सिपाहियों पर फेंक दी। उन्होंने समझा, यह आँखों में धूल झोंकना चाहता है और क्रुद्ध होकर उसका हाथ ही काट डाला।

मरते-मरते अपने खून से उस अभिशापित यक्ष ने लिखा—

"अधर लगे हैं आनि करिकै पायन प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को।"

कवि की गुहार पर मौत आ गई, पर सुजान न आई। संदेशा उस तक पहुँच सका या नहीं, कौन जाने!

कविता उसकी जीविका नहीं, जिंदगी थी। उसने लिखा; क्योंकि लिखे बिना रह न सका। उसमें टूटे हुए दिल की सचाई है, जो हृदय को छू देती है। भाषा में सुकुमारता और सरसता के साथ वह सहज सरलता है, जो भाव को पाठक तक सुरक्षित पहुँचा देती है। ऐसी सरस और सशक्त ब्रजभाषा बिरले ही लिख सके। घनानंद के काव्य-सर में रीति-कालीन वासना का पंक उतना नहीं, जितना पवित्र प्रेम के पंकज हैं। उसमें बिहारी की-सी 'उछल-कूद' नहीं है। 'सुजान-सागर', 'विरह-लीला', 'कोक-सार' आदि ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं।

अपने प्रिय को उलाहना देता हुआ वह बोल उठा—

"अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं ॥
घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन-सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेत पै देत छटाँक नहीं ॥"

प्यार ही ऐसों से हो गया, जो 'मन' ले लेते हैं; छटाँक नहीं देते। पर, अपना क्या वश है? छली का वियोग भी तो सहा नहीं जाता। जब मौत की छाया-सी घटाएँ आकाश में घिर आई, उसका विरह-विदग्ध हृदय कराह उठा—

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबहीं करेजो किन कोरिलै।
पैड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्योंही,
चातक रे घातक ह्वै तूहू कान फोरिलै ॥
आनंद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरिलै।
जौ लौं करें आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौ रे डरारे बजमारे घन घेरिलै ॥

कालिदास के यक्ष ने मेघ को दूत बनाकर भेजा था। रीति-काल का यह यक्ष भी बादलों से आग्रह कर उठा—'ओ बादल! एकबार मेरे आँसुओं को लेकर, सुजान के आँगन में बरस जा।'

"कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
ओ अँसुवान को लै बरसौ।

और, उसका विश्वास बोला—एक दिन उसकी पुकार उन कानों तक जरूर पहुँचेगी।

> "रूई दिए रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की ?
> कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै ।।"

पर, हिमालय पिघला, पत्थर-सा दिल न पिघला।

* * *

रीति-काल के अंचल पर रस की धारा बही और उपटकर बही। प्रवाह में प्रखरता, लहरों में क्षिप्रता, बूँद-बूँद में यौवन की उच्छृंखलता। कूल-कगारे बह चले। मर्यादाएँ चकनाचूर हो गईं। पर, एक शिलाखंड था, जो अडिग रहा। लहरियाँ उसके चरणों पर, लोट गईं, लोटकर लौट गईं। वह अडिग खड़ा रहा। शायद भींगा, पर डूबा नहीं, बहा नहीं—वह था 'भूषण'!

तब मुसलमान शासक थे, हिंदू शासित। वे विदेशी थे, ये भारत के नागरिक। विदेशी शासक के अत्याचार ने ठोकर दे-दे कर जन-मन को जाग्रत कर दिया। स्वतंत्रता का ज्वार उठा और शिवा में साकार हो गया; छत्रसाल की नसों में समा गया। विद्रोह की आग भड़क उठी, लपटें फैल चलीं। यह थी—तबके भारत की—राष्ट्रीयता। भूषण राष्ट्रीय कवि था; क्योंकि उसने शोषित जनता के प्रतिनिधि शिवा और छत्रसाल की प्रशस्तियाँ गाईं, जन-मन में ज्वाला भर दी। उसकी ओजस्विनी वाणी का अमृत पीकर, स्वतंत्रता का संघर्ष अमर हो उठा। उसने कहा—

"दावा द्रुमदंड पर, चीता मृग झुंड पर
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है ॥"

और, शेर शिवराज की तलवार पर मुग्ध होकर कवि बोल उठा—

'पैज प्रतिपाल, भूमिभार को हमाल...'

वह तलवार शत्रु-दल पर बिजली बनकर गिरी। रक्त के फव्वारे छूट पड़े। मुंडों से धरती पट गई। भूषण ने शब्द-शब्द में युद्ध-भूमि के इन दृश्यों को मूर्त्त कर दिया—

"कहुँ रुंड कटत, कहुँ मुंड नचत,
कहुँ सुंड पटत घन।"

भूषण की कविता—लाल भवानी!

भूषण की भाषा—शस्त्रों की झंकार, डंके की चोट, ज्वालामुखी का विस्फोट!

वह रीति-युग का कवि था; क्योंकि उसने आचार्य बनने का असफल प्रयास किया। वह रीति-युग का कवि नहीं था; क्योंकि उसमें नारी के अंगों की भूख न थी।

वह जन-मन का विद्रोह था—रस के ज्वार में भी अविचल खड़ा, शिलाखंड!

उसने 'शिवराज भूषण' लिखा; 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल दशक' की रचना की।

पर, शिलाखंड रस की धारा को रोक न सका, मोड़ न सका! वह अड़ा रहा, वह बहती रही।

*　　　*　　　*

रुनझुन! रुनझुन!! छूम-छनन् छनन्!!!...

नर्तकी के पाँव दिखलाई नहीं देते थे।

ता थेइ, ता थेइ! धा-धा! तृकिट धा! धा-धा तृकिट धा!!... सहसा उसके गतिशील चरण एक साथ कई आघात देकर सम पर आ गिरे। साजों की झंकार टूट गई। झीना आँचल शरीर से सरक कर, भूमि पर आ गिरा। ललाट और कपोलों पर पसीने के मोती ढलमल कर उठे।

उभरे हुए वक्ष-सौंदर्य को आँखों में समेटते हुए, महाराज बोल उठे--'सुंदर, बहुत सुंदर!' और एक बहुमूल्य हार उसके आँचल पर आ गिरा।

फिर, उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए, कोलाहल के बीच, राजकवि उठ खड़ा हुआ। एक खास अदाज से हाथ उठा कर उसने कहा—

"गुलगुली गिलमें गलीचा हों, गुनीजन हों,
चाँदनी हों चिक हों चिरागन की माला हों।
कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा हों सजी,
सेज हों, सुराही हों सुरा हों, और प्याला हों।"

और, सुरा की घूँट कंठ के नीचे उतारते हुए महाराज बीच ही में बोल उठे—बहुत खूब! सेज हों, सुराही हों, सुरा हों और प्याले हों...। वाह!!'...

और, कवि के आह्लाद का पारावार न रहा। वाणी में उमंग भर कर बोला—

"शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हों।
तान तुक ताला हों, विनोद के रसाला हों,
सुबाला हों, दुसाला हों, विसाला चित्रसाला हों।"

कवि के अंतिम कुछ शब्द 'वाह ! वाह !!...' के कोलाहल में डूब गए। महाराजा उमंग में भर कर चिल्ला उठे—'एक और ! एक और...'। और, राजकवि ने सगर्व प्रारंभ किया—

"फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी,
भाइ करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी,
नैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी।"

"वाह ! वाह !!..नैन नचाय, कही मुसुकाय..बहुत खूब !!!.."—उमंग में भरकर महाराज बिलकुल उठ खड़े हुए। प्रशंसासूचक कोलाहल के बीच उन्होंने घोषणा की—"मंत्री ! हम प्रसन्न हुए। राजकवि को पाँच सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट की जाएँ।"

और, राजकवि ने कृतज्ञतापूर्वक सिर झुका लिया।

यह था, रीति-काल का अंतिम सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर—शृंखला की अंतिम कड़ी। उसकी कविता शब्दों के गागर में रस भर कर

चली ; पैरों में नूपुर बाँधकर। धरती भींग गई। दिशाएँ मुखरित हो उठीं। शृंगार के ऐसे अनूठे चित्र किसने प्रस्तुत किए? इतनी सहज मधुर भाषा किसने लिखी? पद्माकर की सुप्रसिद्ध कृति 'जगद्विनोद' अपना जोड़ नहीं रखती।

दूलह, ग्वाल, लाल, वेनी, बोधा और सूदन—इसी रस-धारा की छोटी-बड़ी लहरें हैं। उपेक्षा उनकी भी नहीं की जा सकती। कैसे की जाय? प्रेम के पंथ पर चलते हुए बोधा ने तो यहाँ तक कह डाला—

"प्रेम को पंथ कराल महा, तरबार की धार पै धावनो है!"

*　　　*　　　*

काल के पथ पर हमारा कारवाँ, मीलों दूर निकल आया। रीति-काल की मधुशाला पीछे छूट गई। पर, लगता है कि पीछे छूट गई। दुनिया में आज भी उस मधुशाला का अस्तित्व कहीं जरूर होगा। और, यौवन के छलकते प्यालों से, साकी पीनेवालों का स्वागत कर रही होगी। उसके थिरकते हुए पैरों के नूपुर, अपने रुन-झुन में, कतराते हुए बटोहियों से साग्रह कह उठते होंगे—

ठहर पथिक, मधु-रस पी ले!

★

रीति-काल : एक झलक

* **कालः**—सं० १७००—१६००

* **परिस्थितियाँ**—मुगलों का शासन। बादशाहों, नवाबों और नरेशों के राज-दरबार विलासिता के अखाड़े। मठों और मंदिरों का भी यही हाल। देश की जनता को चूस कर, विलासिता की सामग्रियों का एकत्रीकरण।

  राज्याश्रित होने के कारण, कवि स्वभावतः आश्रयदाताओं के रंग में रँग गए। देश और जनता की ओर उनका ध्यान नहीं।

* **रीति-काल का साहित्यः**—प्रमुख विशेषताएँ:—

  १. शृंगार। २. अलंकार। ३. आचार्यत्व के प्रति आग्रह।

* **भाषा और छंद** :—मुख्यतः ब्रजभाषा का प्रयोग। दोहे, कवित्त और सवैये।

* **प्रमुख ग्रंथ और ग्रंथकार** :—

  १. बिहारी—बिहारी-सतसई।

  २. देव—अष्टयाम, भाव-विलास, भवानी-विलास, रस-विलास आदि।

  ३. मतिराम—रसराज, ललित-ललाम।

  ४. पद्माकर—जगद्विनोद, गंगालहरी।

  ५. घनानंद—सुजान-सागर, विरह-लीला, कोकसार।

  ६. भूषण—शिवराज-भूषण, शिवा-बावनी, छत्रशाल-दशक।

  अन्य :—रसलीन, दूलह, बेनी, ग्वाल आदि।

* कलापक्ष का एकांगी उत्कर्ष। भाव-पक्ष उपेक्षित। जीवन और जगत् के प्रश्नों की ओर से उदासीनता। एक प्रकार से ह्रास-युग। फिर भी शैली के क्षेत्र में हिंदी को बहुत कुछ मिल सका।

जंजीरें बोल उठीं

[आधुनिक युग]

झनकार

(आधुनिक युग की पृष्ठभूमि)

'नींव की ईंटें'

(हिंदी-गद्य का निर्माण-काल)

सोलहवीं शताब्दी की साँझ उतर रही थी—धीरे-धीरे, गुमसुम उदास। क्षितिज के बंधनों में दूर-दूर तक फैला अरब सागर हाहाकार कर रहा था। समुद्री हवा के गीले झोंके रह-रह कर सिसक उठते थे।

सहसा 'हू ! हू !!' की कर्कश आवाज़ से दिशाएँ काँप उठीं। शून्य में नीले पर्दे के उस पार से 'यूनियन जैक' झलमल कर उठा। सुदूर अरब सागर की विक्षुब्ध लहरों को रौंदता हुआ कोई दानवाकार जहाज चला आ रहा था।

दक्षिण भारत के पश्चिमी सागर-तट पर जहाज आ लगा, और एक-एक कर कई मानवीय आकृतियाँ डेक पर से नीचे कूद पड़ीं—गोरी-गोरी, सुनहले बालों वाली। उनकी नीली-भूरी आँखों में सतर्कता थी, सतर्कता से अधिक चालाकी और छल।

पर, वे तो व्यापारी—क्वीन एलिजाबेथ के आज्ञाकारी अनुचर। जाने कितनी कठिनाइयाँ झेलकर इंगलैंड से हिंदुस्तान आए थे। यह उदारमना देश अपने उन दूरागत अतिथियों की प्रार्थना क्योंकर ठुकरा देता !

१६०० ई० की इकतीस दिसंबर को भारत के उन अंगरेज अतिथियों ने यहाँ अपनी वाणिज्य-संस्था स्थापित कर ली—ईस्ट इंडिया कंपनी। अरब सागर की छाती पर व्यापारियों के जहाज बेरहमी के साथ उछल-कूद मचाने लगे।

व्यापार फैल चला, आग की लपट की तरह—पहले मद्रास, फिर बंबई, फिर कलकत्ता। पर, मुगलों और मराठों ने बीच ही में रोका। चिनगारी झट राख में दुबक गई।

जब काल के पंजे औरंगजेब को उठा ले चले, देश की छोटी-बड़ी शक्तियाँ आपस में उलझ पड़ीं—जैसे पत्थर का दबाव हटते ही कागज़ के पन्ने फड़-फड़ा उठे। अनुकूल हवा पाकर राख में दुबकी पड़ी चिनगारी बाहर निकल आई। व्यापार का चोंगा फेंक कर हमारे अतिथि, तलवार लिए पलासी के मैदान में उतर आए—हमारे ही खिलाफ़। उनकी बेहया आँखों में आज याचना न थी, राज्य का लोभ था, हिंस्र पशुओं की-सी बर्बरता थी। तलवारें आ टकराईं। एक बार फिर भारत की मिट्टी खून से लाल हो उठी। और अतिथि स्वामी बन बैठे—

> जो घर में आए मेहमान बन कर।
> वो जुल्म करने लगे हमीं पर॥

अब ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में तुला-दंड ही नहीं, राज-दंड भी था। लूटना आसान है, शासन करना मुश्किल। शासन करने के लिए तन से अधिक मन पर अधिकार चाहिए। वहाँ तलवार से काम नहीं चलता। भाषा की जरूरत होती है। भाषा न हो, तो शासक प्रजा को अपनी बात समझाए कैसे?

पर, सात समुद्र पार की भाषा भारतीय समझ न सकते थे। भारत की भाषा अँगरेजों की समझ से परे थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने एक समस्या उठ खड़ी हुई। उसने देश की जनता पर अँग्रेजी लादनी चाही। पर, तुरत यह संभव न था। फिर फ़ारसी का नंबर आया। पर, वह जनता की भाषा नहीं थी। लाचार होकर कंपनी लोक-भाषाओं की ओर झुकी; हिंदुस्तानी का युग आया। पर, कंपनी की हिंदुस्तानी फ़ारसी ज्यादा थी, हिंदुस्तानी कम; हिंदी उससे भी कम।

जब १८०० ई० में वेलेजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की, हिंदुस्तानी के दिन फिरे। उसके अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था की गई। डा० गिलक्राइस्ट प्रोफेसर नियुक्त किए गए। उनकी सेवाएँ भूली नहीं जा सकतीं। उनके बाद आनेवाले हिंदुस्तानी के अँगरेज प्रोफेसर भी भूले नहीं जा सकते—जेम्स मोअट, जॉन विलियम टेलर और विलियम प्राइस। पर, विषय का ज्ञान उन्हें कितना था, कहना कठिन है। उनके लिए फारसी और हिंदुस्तानी

कदाचित एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम थे। पर नेतृत्व का श्रेय तो उन्हें मिलना ही चाहिए।

फोर्ट विलियम कॉलेज के चौव्वन वर्ष साधना के वर्ष रहे। फ़ारसी अरबी, बंगला और हिंदुस्तानी में अनेक ग्रंथ प्रकाशित किए गए। पर, हिंदुस्तानी के नाम पर जो ग्रंथ प्रकाश में आए, प्रायः उर्दू के ही ग्रंथ थे। उनकी लिपि मात्र नागरी थी। यों अपवाद कहाँ नहीं होते! लल्लू लाल और सदल मिश्र की रचनाएँ अपवाद की ही कोटि में आएँगी। पर, अपवाद कभी-कभी नियम से अधिक उपयोगी, अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं।

लल्लूलाल के प्रेमसागर (कृष्ण-चरित्र) में पहली बार खड़ी बोली का गद्य अपने शुद्ध रूप में सामने आया। अरबी और फ़ारसी के लिए वहाँ 'नो ऐडमीशन' है; संस्कृत और ब्रजभाषा के लिए 'स्वागतम्'। निखार उसमें न हो, सरसता जरूर है।

सदल मिश्र ने खड़ी बोली को बहुत कुछ स्वास्थ्य प्रदान किया, एक रोचक कहानी भी दी।—

वन का एकांत। वृक्षों और लताओं के कुंज में उद्दालक मुनि का रमणीक आश्रम। एक दिन पिप्लाद मुनि आ पहुँचते हैं। वे कहते हैं—बिना भार्या के तपस्या सफल नहीं होती और उद्दालक चिंता में पड़ जाते हैं। सफेद बाल, जर्जर शरीर—भला इस बुढ़ापे में उन्हें कौन अपनी कन्या दे। पर, ब्रह्मा की कृपा से राजा रघु की महासुंदरी कन्या चंद्रावती उन्हें मिल जाती है। पुत्र भी

उत्पन्न होता है। नासिका से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम पड़ता है—नासिकेता।

एक दिन पिता उसे अग्निहोत्र के लिए कंद-मूल आदि लाने वन को भेजते हैं पर, वह लगता है शिव का पूजन करने। वहीं समाधि लग जाती है। लौटता है, पूरे सौ वर्ष बाद। क्रुद्ध होकर मुनि शाप दे बैठते हैं—अभी यमलोक सिधारो! योग-बल से नासिकेता सशरीर यमराज के संमुख जा पहुँचता है। वे प्रसन्न होते हैं, और शापित होकर यमलोक जानेवाला वह बालक, वरदान पाकर घर लौट आता है।....

'नासिकेतोपाख्यान' की यह कथा रोचक है, महत्त्वपूर्ण नहीं। महत्त्व है भाषा का—अभीष्ट का। 'नासिकेतोपाख्यान' का गद्य सुगठित और साफ-सुथरा है। 'प्रेमसागरवाली' शिथिलता और कृत्रिमता उसमें नहीं। छोटे-छोटे शब्द, छोटे-छोटे वाक्य—जैसे गंगा की चटुल लहरियाँ। मुहावरों ने उनमें चार चाँद लगा दिए हैं।

'प्रेमसागर' की अपेक्षा 'नासिकेतोपाख्यान' का गद्य निश्चय ही अधिक प्रौढ़ है।

पर, महत्त्व दोनों का है। लल्लू लाल और सदल मिश्र—दोनों ही हिंदी के गद्य-निर्माता हैं। पर, फोर्टविलियम कॉलेज और गिलक्राइस्ट न होते, तो लल्लू लाल और सदल मिश्र कहाँ होते? अँगरेज न होते, तो हिंदी-गद्य न होता। क्या सच?

पर, चौदहवीं शताब्दी के आस-पास जब महात्मा गोरखनाथ के हाथों गद्य गढ़ा जा रहा था, तब अँगरेज कहाँ थे? जब 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' लिखी जा रही थी, तब फोर्ट-विलियम-कॉलेज कहाँ था? जब 'चंद छंद-वर्णन की महिमा' और 'गोरा-बादल की कथा' का प्रणयन हो रहा था, तब गिलक्राइस्ट साहब कहाँ थे?

अट्ठारहवीं शताब्दी के शेष होते-न-होते मुंशी सदासुखलाल के 'सुख-सागर' की रचना शेष हो चुकी थी। पर, फोर्टविलियम कॉलेज को अभी वेलेज़ली के मानस-गर्भ से बाहर आना शेष ही था। कॉलेज के जन्म के बाद भी गद्य-साधना की यह स्वतंत्र परंपरा कायम रही। कॉलेज की छाया में 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की भूमिका बाँधी जा रही थी। उधर लखनऊ के दरबार में कोई कहानीकार कह रहा था—'एक था राजा। एक थी रानी। राजा का नाम था, उदयभान और रानी का—लक्ष्मीवास। उनके एक बेटा हुआ। लोग उसे कुँवर उदयभान कह कर पुकारते। एक दिन जंगल में उसे एक हिरनी दिखाई पड़ी। वह अपने घोड़े पर उसके पीछे दौड़ चला। दौड़ता-दौड़ता एक अमराई में जा पहुँचा। वहाँ सखियों के बीच रानी केतकी झूले पर सावन गा रही थी।...'

वह कहानीकार था इंशा, और कहानी थी—रानी केतकी की।

रानी केतकी की यह प्रेम-कहानी हिंदी-संसार को उस अमर कहानीकार की सबसे बड़ी देन है। इस देन का महत्त्व कहानी

की दृष्टि से उतना नहीं, जितना भाषा की दृष्टि से। इसमें 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट नहीं।' इसमें 'न हिंदीपन है, न भाखापन'। वह बोलचाल की भाषा है—'खड़ी बोली के ठेठ रूप का सफल उदाहरण'।

सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ ने किसी गिलक्राइस्ट के हुक्म पर कलम नहीं उठाई थी। उन्होंने स्वतंत्र और स्वाभाविक रूप से विकसित होती हुई गद्य-परंपरा को आगे बढ़ाया था। अँगरेज न भी आए होते, तो हिंदी में गद्य आया होता और जरूर आया होता। हाँ, उनके आ जाने से समय पर हमारी साधना को बल मिल गया, इसे हम अस्वीकार नहीं करते।

हिंदी-गद्य के निर्माण में सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ का भी वही महत्त्व है, जो लल्लू लाल और सदल मिश्र का। इनमें उपेक्षणीय कोई नहीं।

हिंदी-गद्य की प्रतिष्ठा हो गई। अँगरेजों की शासन-शृंखला सुदृढ़ हो चली। अब उनके धर्म ने फन फैलाया। इसाई स्कूल खुलने लगे। बाइबिल हिंदी में अनूदित होकर घर-घर पहुँचने लगा। हिंदू-धर्म और संस्कृति के पाये हिल उठे।

ब्रह्म-समाज की भृकुटी तन गई। आर्य-समाज उठ खड़ा हुआ। एक हिलोर उधर से, एक हिलोर इधर से—तूफान आ टकराए। हलचल मच गई।

पर, दोनों पक्षों ने अपने-अपने प्रचार के लिए खड़ी बोली गद्य का ही सहारा लिया। हिंदी पल्लवित हो उठी।

सरकारी दफ्तर और अदालत भी आच्छादित होने लगे। हिंदी !.. हिंदी !!...चारों ओर हिंदी !!!—जैसे भादो की गंगा। उर्दू वाले चौंके। सर सैयद अहमद और गार्साद ताँसी ने सरकार को हिंदी के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। पर, जवाब तैयार था। राजा शिवप्रसाद उठ खड़े हुए। अँगरेजों के बीच उनका भी प्रभाव कम न था। पर, पूर्ण विरोध उनके लिए भी संभव न था। समन्वय ही एक मात्र रास्ता था। वे 'आमफहम हिंदुस्तानी' के समर्थक होकर चले।

इसी बीच राजा लक्ष्मणसिंह ने रंगमंच पर पदार्पण किया। राजा शिवप्रसाद से उनका मेल न हो सका। वे संस्कृत-मिश्रित हिंदी के पक्ष में थे। उन्होंने साफ कहा—'हिंदी और उर्दू दो बोलियाँ न्यारी-न्यारी हैं।'

और, बात बढ़ चली। संघर्ष जोर पकड़ने लगा। पर, संघर्ष ही तो विकास का पथ प्रशस्त करता है।

पथ पर अनिश्चय का गहन अंधकार छाया था। हिंदी ठिठकी खड़ी थी। तभी, सहसा पच्छिम क्षितिज के घूँघट से चाँद मुस्कुरा उठा।

★

'जब चाँद उग आया'

(भारतेन्दु-युग)

भादो का महीना। साँझ की विदा-वेला। आकाश की गीली आँखों से काजल ढल रहा था।

हिंदी दो-राहे पर खड़ी थी—थकित-चकित, चुपचाप। इस ओर संस्कृत, उस ओर उर्दू—किसे पकड़े, किसे छोड़े!···अंधकार घनीभूत हो उठा। दिशाएँ डूबने लगीं। पगडंडियाँ ओझल हो गईं। और, हिंदी खड़ी रही।

भींगी पलकें, उदास मुख, हाथों में जंजीर—भारत के सात लाख गाँवों में चालीस कोटि संतानों वाली माता सिसक रही थी। खेतों, खलिहानों और निर्जन पगडंडियों पर मातम की छाया डोल रही थी।

अंधकार, अंधकार, केवल अंधकार! चारों ओर अंधकार!!

कि सहसा क्षितिज को चीरकर चाँद उग आया। रूपहले वाण छूटे और तिमिर का चीर फटने लगा।

वह संवत १९०७ के भादो का शुक्लपक्ष था, जब भारतेन्दु का उदय हुआ। वह भारत का इंदु—वह जमीन का चाँद!—कितना

सुंदर ! कितना मोहक !! गौरवर्ण, उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी आँखें, ग्रीवा पर बल खाते हुए रेशमी घुँघराले बाल—कला ने आकार पा लिया था उसमें। वह कवि था, संगीत-प्रेमी था, अभिनेता था। उसने हिंदी को दिशा दी, गति दी। देश उसकी शंख-ध्वनि सुनकर जाग उठा। बंदी की जंजीरें बज उठीं।

हिंदी ठिठकी खड़ी थी ! चाँद पास आया—बहुत पास। उसके सूखे होठों पर लाज-भरी मुस्कान की लाली दौड़ गई। अंग पुलकित हो उठे, और चरण गतिशील।

उर्दू की गली ; संस्कृत की पगडंडी। पर, भारतेन्दु बीच से चला। उसने अपनी अलग राह बनाई। वह चलता गया ; राह बनती गई। दुनिया राहों पर चली, राह उसके पद-चिह्नों पर। आगे-आगे भारतेन्दु, पीछे-पीछे हिंदी।

उसने हिंदी को जो रूप दिया, उसमें न उर्दू की ज्यादती है, न संस्कृत की अतिरंजना। वह भाषा का स्वाभाविक रूप है—शिष्ट परिमार्जित !

और, जब दीन-हीन ; ग्राम-वासिनी भारत-माता के चरणों में आया, उसकी आत्मा कराह उठी। अंतर्वेदना हिंदी के तारों से करुण-रागिनी बनकर फूट निकली—

> 'रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई,
> हा ! हा !! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।'

भारत-माता के आँसुओं से इंगलैंड का रंगमहल सजाया जा रहा था। हमारा खून उनके दीये में जल रहा था। यहाँ अँधकार, वहाँ दीपावली। भारतेन्दु ने परिस्थिति को समझा और वह बोल उठा--

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी, काल रोग विस्तारी,
दिन-दिन दूने दुःख ईस देत हाहारी।
सबके ऊपर टिक्कस की आफ़त आई,
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।'

पर, इस भारत-दुर्दशा का उत्तरदायी कौन? सभ्यता के ठीकेदार अंगरेज--तन के गोरे, मन के काले! बगुले के पेट में मछलियाँ सड़ती हैं। पर, पाँखों की सफेदी देखी है? कदाचित भीतर की मलिनता ही बाहर सफेदी बन कर प्रगट होती है। भारतेंदु ने झुँझला कर कहा--

'भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन-मन-धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्या सखि साजन? नहिं अँगरेज।'

हास्य और व्यंग्य उस युग की एक प्रमुख विशेषता थी। देश, समाज और आदमीयत के शरीर पर फोड़े उग आये थे, हास्य और व्यंग्य से भारतेन्दु ने नस्तर का काम लिया।

चूरन साहब लोटा जो खाता।
सारा हिंद हज़म कर जाता॥

पर, अभी जन-क्रांति का अवसर शायद नहीं आया था। भारतेन्दु ने "करुनानिधि केसव" के पास फरियाद पहुँचाने की कोशिश की—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए।
जागत नेक न यद्यपि बहुत विधि भारतवासी रोए॥

फरियाद केसव तक पहुँची होगी, क्या मालूम ? पर, जनता के कानों तक कुछ जरूर जा पहुँचा—कुछ, जो अपरिचित था, जो नवीन था। भारतेन्दु ने सबसे पहले हमारा ध्यान, हमारी जंजीर की ओर आकृष्ट किया। उसने ही बताया कि मुक्ति के लिए संपूर्ण भारतवर्ष को एक होना है—

'रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।'

अबतक साहित्य दरबारों की शोभा बढ़ाता रहा, राजाओं से पुरस्कार पाता रहा। आज उसे जनता की झोपड़ियों में दीप जलाना था—यह युग की माँग थी। पर, जनता जितना गद्य समझती है, उतना पद्य नहीं। अभिनीत होने पर नाटक सबसे अधिक बोधगम्य होता है। इसलिए भारतेन्दु ने नाटक लिखे—'अंधेर नगरी' और 'भारत-दुर्दशा', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी'। इन नाटकों ने दिग-दिगंत में जागरण के संदेश पहुँचा दिए, देश-भक्ति की गंगा बहा दी।

निज भाषा उन्नति अहै,
सब उन्नति को मूल।

भाषा उन्नत नहीं होगी, तो देश कैसे उन्नत होगा? भारतेन्दु ने देश के लिए जागरण-गान गाया, देश ही के लिए भाषा और साहित्य को भी समृद्ध बनाने का प्रयास किया। उसने जन-गीत लिखे, अनुवाद किए, समस्या-पूर्ति की! उसने निबंध लिखे, काव्य-शास्त्र पर कलम चलाई, पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं—'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका') से कौन परिचित नहीं? उसमें एक साथ ही हिंदी साहित्य का वह युग बोल उठा।

भारतेंदु व्यक्ति नहीं, एक युग था। चाँदनी के दूध में नहा कर धरती उज्ज्वल हो उठती है। भारतेंदु के प्रभाव में डूबकर उस काल का संपूर्ण साहित्य भारतेंदुमय हो उठा। प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्री निवास दास, पंडित अंबिका दत्त व्यास, पं० सुधाकर द्विवेदी और बाबू राधाकृष्ण दास—ये सारे साहित्यकार उसी एक के अनेक रूप थे; एक चाँद के अनेक प्रतिबिंब।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबू तोताराम और पं० भीमसेन शर्मा—भारतेंदु-युग की ये विभूतियाँ हिंदी के गौरव हैं।

सबमें 'अपनी भाषा की प्रकृति की परख थी, सभी भारत-माता के सपूत थे—जिंदादिली के प्रतीक। ये न होते, तो एक नए साहित्य को आधार कौन देता? नींव की इन ईंटों को प्रणाम!

अबतक हिंदी के अंचल पर केवल कविता की क्षीण धारा प्रवाहित होती रही थी। इस युग में साहित्य असंख्य-असंख्य धाराओं में विभक्त होकर उमड़ पड़ा—नाटक और निबंध, काव्य और कथा, पत्र और समालोचना। यह हिंदी का संक्रांति-युग ही नहीं, क्रांति-युग भी था।

भारतेंदु ने हिंदी में नाटकों को जन्म दिया। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत सौभाग्य नाटक', प्रतापनारायण मिश्र ने 'त्रिया तेल, हम्मीर हठ चढ़ै न दूजी वार' और श्री राधाकृष्णदास ने 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप' जैसे नाटक दिए।

लाला श्री निवासदास ने 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'तप्ताः संवरण' तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने 'प्रणानीप्रणय', 'मयंकमंजरी' और 'माधवानल' की रचना की।

अंबिकादत्त व्यास के 'गौसंकट' और 'भारत सौभाग्य', जगत नारायण शर्मा का 'भारत दुर्दिन' और गोपालराम का 'देश-दर्शन'—इन नाटकों ने देश में जागरण ला दिया।

प्रहसनों की तीखी छुरी ने अन्याय और अनीति की धज्जी उड़ा दी।

लेखों और निबंधों की विषय-विविधता देखते ही बनती है। राजनीति, समाज-दशा और देश-दशा से लेकर जीवन-चरित्र, पर्व-त्योहार और ऋतु-छटा तक पर कलम ने करामात दिखलाई—खास कर संपादकों की कलम ने। बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी और प्रतापनारायण मिश्र ऐसे ही संपादक थे।

उस युग में गीत लिखे गए, महाकाव्य नहीं। उपन्यास ने पहले-पहल अपने अस्तित्व की घोषणा की। लाला श्रीनिवास का 'परीक्षा गुरू' हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास है। राधाकृष्ण दास ने 'निस्सहाय हिंदू' और बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान, एक सुजान' लिखकर शृंखला को आगे बढ़ाया।

आलोचना अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रगट हुई। 'आनंद-कादंबिनी' की प्रतियों में बदरीनारायण चौधरी के आलोचनात्मक लेख इस बात के प्रमाण हैं। स्वयं भारतेंदु का 'नाटक' इस दिशा में स्तुत्य प्रयास है।

पत्र-पत्रिकाओं का तो निर्झर ही फूट पड़ा—हरिश्चंद्र-चंद्रिका, हिंदी-प्रदीप, कवि-वचन, सुधा और आनंद-कादंबिनी, बिहार-बंधु, भारत-मित्र, उचित वक्ता और हिंदोस्थान। लगभग पच्चीस पत्रिकाएँ तो भारतेंदु के जीवन-काल में ही निकल पड़ी थीं।

एक दिन हिंदी-प्रचार का यह आंदोलन संगठित होकर नागरी-प्रचारिणी-सभा में साकार हो उठा। बाबू श्यामसुंदर दास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह की सेवाएँ भूली नहीं जा सकतीं। वे न होते, तो सभा न होती और सभा न होती, तो हिंदी वहाँ न होती, जहाँ आज है।

एक-एक कर पैंतीस साल बीत गए। उस दिन चाँदनी की रिमझिम में मधुवन झूम रहा था। हिंदी के वृंत-वृंत पर, पात-पात

में, कलियाँ मुस्कुरा रही थीं कि रात ढलने लगी। चाँद गलने लगा। दूर, बहुत दूर, प्रातः की शिंजिनी बज उठी। और, भारतेंदु—वह चाँद धीरे-धीरे क्षितिज की सेज पर उतर आया। हिंदी पुष्पों का अर्घ्य लिए चरणों पर झुकी, पर उसका देवता अंतर्ध्यान हो गया—चाँद डूब गया। डूब गया, क्योंकि प्रभात आने वाला था।

'निर्माण के पथ पर'

(द्विवेदी-युग—१९०१-२० ई०)

माघ का महीना। निस्तब्ध रात। सन-सन पछुआ हवा। अंधकार की काली चादर में, दुनिया थर-थर काँप रही थी।

दैत्य जैसे काले-काले वृक्षों की पाँतों के बीच रायबरेली की सुनसान सड़क बेहोश पड़ी थी। अंधकार को चीरता हुआ कोई बालक सड़क पर अकेला चला जा रहा था। मुख पर संकल्प और दृढ़ता, सुंदर-स्वस्थ शरीर—कोई तेरह का रहा होगा। नंगे पाँव, घुटनों को ढँकने की व्यर्थ चेष्टा करती हुई फटी-चिटी धोती। बदन पर पुराना कुरता, जिसकी एक आस्तीन गायब, दूसरी केहुनी पर फटी हुई। माथे पर कनटोप।

रात की उस निस्तब्धता में, जब सारी दुनिया सुख की नींद सो रही थी, वह अविराम चल रहा था।

कि सहसा टन् टन्—दूर कहीं घड़ी ने कहा—दो! और, प्रत्युत्तर में 'भौं! भौं!!' कह कर कुत्तों ने अपनी जागरूकता की घोषणा की। पर, सोनेवाली दुनिया सोती रही। चलनेवाला बालक चलता रहा। पाँव जल्दी-जल्दी उठ रहे थे।

रात बीत चली, अंधकार फीका होने लगा। क्षितिज से कुछ ऊपर सुबह का तारा चमक रहा था। सामने दौलतपुर ग्राम अचेत पड़ा था। बालक सड़क से नीचे उतर कर, गाँव की पगडंडियों पर चलने लगा। जब मिट्टी और फूस वाले एक जीर्ण-शीर्ण घर के द्वार पर रुका, रात की कालिमा काफी धुल चुकी थी। पूरब दिशा में सफेदी छाने लगी। गायें रँभाने लगीं। आम की डालियों पर पंछी चहक उठे। बूढ़े ताल और सम पर रह-रह कर टूट जानेवाले स्वर में प्रभाती आजमा रहे थे। बालक ने घर का किवाड़ थपथपाया, पर कोई उत्तर नहीं आया। केवल चक्की की 'घर्र ! घर्र !!' सुनाई पड़ती रही। दीप का झिलमिल प्रकाश किवाड़ के सँकरे दरारों से बाहर निकल आने को संघर्ष करता रहा। इस बार जरा ऊँची आवाज़ में उसने पुकारा—'मा ! मा !!' और हठात चक्की की "घर्र ! घर्र !!" बंद हो गई।

एक अधेड़ स्त्री किवाड़ खोल कर बाहर निकल आई—बिखरे हुए कुछ काले, कुछ उजले बाल, ललाट पर संघर्ष और चिंता की रेखाएँ। आँखों में प्यार के आँसू, होठों पर मुस्कुराहट। वह हर्षातिरेक में चिल्ला उठी—'बेटा !' और, मा की ममता ने बालक को खींच कर कलेजे से साट लिया। कितना करुण ! कितना मधुर !!

रायबरेली जिला स्कूल का वह गरीब विद्यार्थी सारी रात पैदल चल कर—पूरे अट्ठारह कोस की दूरी तय कर, अपनी मा से मिलने आया था। पर, उसके लिए यह कोई नई बात न थी। वह तेरह

वर्ष का कोमल किशोर अक्सर पीठ पर आटे-दाल का गट्ठर लाद कर पैदल ही दौलतपुर से रायबरेली जाया करता। कितनी कठोर साधना! कैसी लगन!! पर, पत्थर घिसता नहीं, तो भगवान कैसे बनता! वह नन्हा-सा बालक मुसीबतों को चोट सह-सह कर बड़ा हुआ और एक दिन हिंदी-साहित्य का युग-निर्माता बन बैठा—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी।

उसने रेलवे में नौकरी की। वह टेलीग्राफ़-इंसपेक्टर बना। पर, होना कुछ और था। एक दिन मंजिल पुकार उठी। अपने गौरांग महाप्रभु से झगड़ कर सीधा 'सरस्वती' के चरणों में आ पहुँचा। हिंदी फूली न समाई। और, गुलामी की जंजीर सहम उठी।

तब चांद डूब चुका था। सूरज उगने को था। वह रात और प्रातः की संघर्ष-वेला थी—बीच की अवस्था। अराजकता-सी फैली थी। हिंदी, जो जैसे चाहता था, लिख मारता था। व्याकरण त्राहि-त्राहि कर रहा था। कविता पर अब भी ब्रजभाषा का आधिपत्य था। खड़ी बोली गद्य में सीमित थी। रीति-काल की होली जल चुकी थी, पर शृंगार जीवित था। जंजीरों में बँधी ग्राम्यवासिनी के बेटे प्रेयसी के रूप और यौवन पर मचल रहे थे।

इसी समय आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' का संपादन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। उनकी लौह-लेखनी उठी और अराजकता सिहर उठी। लोहे की छेनी और हथौड़ी से कलाकार पत्थर में प्राण भर देता है। सरस्वती के साधक ने अपनी लौह-लेखनी से हिंदी का रूप सँवार

दिया। खिलवाड़ करने वालों को उसने डाँटा, अशुद्ध लिखने वालों को सुधारा, समर्थ होकर भी न लिखने वालों को प्रोत्साहित किया।

जब खड़ी बोली मँज कर सँवर उठी, कविता के द्वार खुल गए। केवल ब्रजभाषा में ही कविता लिखी जा सकती है, ऐसा कहने वालों ने सर झुका लिए। गद्य और पद्य—दोनों की भाषा एक हो गई।

शृंगार के भग्नावशेषों पर उसकी कलम बज्र बन कर गिरी, शब्द शोले बन कर झड़े। कल्पना की दुनिया झुलसने लगी। रस की धारा सूखने लगी। सारे आवरणों को चीर कर उसने कठोर सत्य को देखा—देखा और दिखलाया। गुलामों को रूप और जवानी पर रीझने का हक़ नहीं। उसने कहा—देश और समाज सर्वोपरी है।

कथनी से करनी बड़ी। उसने पहले किया, फिर कहा। पहले आदर्श प्रस्तुत किया, फिर अनुकरण की माँग की। और, उस अमर सेनानी के पदचिह्नों पर कवियों और लेखकों की सेना चल पड़ी—मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद पांडेय।

शंकर, सनेही और कविरत्न, पूर्ण, दीन, रामनरेश त्रिपाठी और रूपनारायण पांडेय—इन प्रतिभाशाली कवियों का एक स्वतंत्र दल भी कभी हट कर कभी सटकर ; पर साथ-साथ चल रहा था।

हरिऔध तक ने आचार्य द्विवेदी से प्रेरणा ग्रहण की।

उस सेना में किशोरीलाल गोस्वामी, माखनलाल चतुर्वेदी, कृष्णदास जेवा, जयशंकर प्रसाद और गोविंदवल्लभ पंत-जैसे नाटककारों के दस्ते थे।

उसमें प्रेमचंद, कौशिक और सुदर्शन, गुलेरी, वृंदावनलाल वर्मा, हृदयेश और रायकृष्णदास—ऐसे कथाकारों का दल था।

श्यामसुंदर दास, बख्शी, मिश्रबंधु और पद्मसिंह शर्मा-जैसे आलोचकों और निबंधकारों की टुकड़ियाँ भी उसमें शामिल थीं।

आचार्य द्विवेदी के योग्य नेतृत्व में यह सेना लगातार बीस वर्षों तक आगे बढ़ती रही। उसने न जाने कितने, दुर्ग और गढ़ जीते। न जाने, साहित्य के कितने अजेय शिखरों पर विजय की पताकाएँ लहरा उठीं।

पर, यह विजय-यात्रा अन्य क्षेत्रों में उतना कुछ प्राप्त न कर सकी, जितना काव्य और कथा के क्षेत्र में। काल की इस दूरी से देखने पर भी द्विवेदी-युगीन पर्वत-माला के जो गौरव-शिखर आँखों को बरबस आकृष्ट कर लेते हैं, वे हैं—राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त और उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद। महत्त्व पर्वत की हर शिला का है; क्योंकि छोटी-बड़ी शिलाओं के संयोग से ही पर्वत का निर्माण होता है। पर, उसके गौरव का प्रतिनिधित्व तो शिखर ही करते हैं। फिर दूर से देखने पर नज़र भी वे ही आते हैं।

सन् १८५६ की बात है। चिरगाँव में एक दिन बधावे बज उठे। मंगल-गीतों से दिग-दिगंत मुखरित हो उठा। गाँव के एक वैश्य के घर पुत्र उत्पन्न हुआ था।

धूल में खेल-खेल कर बालक जब बड़ा हुआ, उसकी शिक्षा का प्रबंध किया गया। पर, वह था कि 'मास्टर, मौलवी और पंडितों को निराश कर जैसा का तैसा लौट आया।'

तब किसी ने कल्पना भी न की होगी कि वह अकिंचन विद्यार्थी एक दिन इस देश का राष्ट्र-कवि बन बैठेगा। पर, समय के निर्णय के आगे पंडितों और मौलवियों के निर्णय को सर झुकाना पड़ा। आचार्य द्विवेदी का प्रसाद पाकर वह सचमुच ही राष्ट्र-कवि बन बैठा।

आज वह बालक 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसी दर्जनों कृतियों का पिता है। राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के नाम से कौन परिचित नहीं ?

'भारत-भारती' अंगारों से लिखी गई, इस देश के अतीत-गौरव की शानदार कहानी है। 'हम कौन थे, क्या हो गए !' --कह कर उसके कवि ने गुलाम भारतवासियों को अपनी दशा पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया। उसकी कामना थी, 'जग जायँ तेरी नोक से सोए हुए हों भाव जो।' और, सचमुच उसकी कलम ने न जाने कितने दिलों की सोई हुई भावनाओं को कुरेद-कुरेद कर जगा दिया। शहीदों की न जाने कितनी टोलियाँ सजा दीं।

'साकेत' हमारे यात्रा-पथ का मील-स्तंभ है। उर्मिला का त्याग सीता के त्याग से कम न था। पर, रामायण का कवि उसके दर्द पर मौन साध गया। आचार्य द्विवेदी ने उसे काव्य की उपेक्षिता घोषित कर, उसके उद्धार का प्रस्ताव किया और गुप्तजी 'साकेत' लेकर सामने आ खड़े हुए। उसमें उर्मिला के आँसुओं और कैकेई के चरित्र का पुणर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

नवम सर्ग में उर्मिला के दर्द के गीत काफी सुंदर बन पड़े हैं।

'साकेत' की उर्मिला ने जब कपिलवस्तु के खंडहरों की ओर अंगुलि-निर्देश किया, कवि का हृदय भर आया। गौतम की प्रशस्तियाँ बहुतों ने गाईं, गोपा का गीत किसी ने नहीं। पर, राष्ट्र-कवि ने घोषणा की—'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।' क्योंकि उसकी साधना गौतम की साधना से कदापि हीन नहीं।

'यशोधरा' में माता और पत्नी यशोधरा की गौरवपूर्ण कहानी है। उसमें गौतम के निराशावाद पर यशोधरा के आशावाद की विजय कराई गई है।

विधान की दृष्टि से वह एक चंपू-काव्य है—गद्य, पद्य, तुकांत सब का समन्वय।

कदाचित 'यशोधरा' गुप्तजी की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है।

खड़ी बोली को साज-सँवार कर काव्य के उपयुक्त बनानेवाले साधकों में गुप्तजी का नाम अग्रगण्य है। भगवद्भक्ति और देश-भक्ति का सुखद समन्वय उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वे प्राचीन और नवीन के बीच की मध्यम कड़ी हैं—युग की धड़कन को पहचान कर चलनेवाले; चिर परिवर्तनशील! चिर नवीन!! तभी वे आज भी कायम हैं।

सन् १९०४ की बात है। जाड़े के दिन थे। बत्तियाँ जल चुकी थीं। काशी के किसी बुकसेलर की दूकान पर एक युवक खड़ा था—गेहुँआ रंग, धसी आँखें, पिचके हुए गाल, ललाट पर चिंता की

रेखाएँ। दो दिनों का भूखा वह अपनी पुस्तक बेचने आया था। दो रुपये की पुस्तक एक रुपये में बेच कर, राहत की साँस लेता हुआ, वह ज्योंही दूकान से नीचे उतरा, किसी ने टोका—"तुम यहाँ कहाँ पढ़ते हो ?"

उसने कहा—"पढ़ता तो नहीं हूँ ; पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा।"

"मैट्रिकुलेशन पास हो ?"

"जी, हाँ।"

"नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?"

"नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।"

टोकनेवाला व्यक्ति किसी छोटे-से स्कूल का हेडमास्टर था। उसे एक सहकारी अध्यापक की आवश्यकता थी। अठारह रुपए वेतन पर युवक ने झट स्वीकार कर लिया, मानो कोई अलभ्य वस्तु हठात् उपलब्ध हो गई हो।

पर, मुट्ठी भर दाने को तरसनेवाला, अठारह रुपए की मजदूरी पर फूल उठनेवाला, वह निर्धन युवक जब एक दिन हिंदी का उपन्यास-सम्राट् बन बैठा, दुनिया विस्मित रह गई।

हाँ, वह था—उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद—महादीन, महादानी। कलम को कुदाल बना कर उसने आजीवन मजदूरी की। उसके श्रम-बिंदु मोती बन-बन कर दुनियाँ के दामन पर झड़े—'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गो-दान'।

स्वयं गरीबी में पिस कर भी, उसने हमें 'पंच-परमेश्वर' और 'सतरंज के खिलाड़ी', 'बड़े घर की बेटी', 'ईदगाह' और 'कफ़न' जैसी सैकड़ों अनमोल कहानियाँ दीं, जिन्हें लेकर हम संसार के सामने गर्व से सर उठा कर खड़े हो सकते हैं।

प्रेमचंद के उपन्यास और कहानियाँ भारत-माता के वे आँसू हैं, जो कलम की राह उतर कर अंगार बन गए हैं। भारत की आत्मा अगर गाँवों में बसती है, तो प्रेमचंद का साहित्य निश्चय ही इस देश का सच्चा चित्र है। गुलामी की जंजीर की हर कड़ी को—देश और समाज की हर समस्या को, उसके हर पहलू को उसने निकट से देखा और समझा था। "गो-दान' के रचयिता प्रेमचंद ही हिंदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं, जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं।"

'सेवासदन', 'निर्मला' और 'गबन' सामाजिक उपन्यास हैं। 'गबन' में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम और 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह के दुष्परिणामों का चित्रण हुआ है। 'रंगभूमि' देश के राजनैतिक आंदोलन का सजीव इतिहास है, जिसमें महात्मा गाँधी सूरदास बनकर सामने आये हैं। 'कर्मभूमि' किसानों और अछूतों की समस्या पर आधारित है। 'गो-दान' में वर्ग-संघर्ष अंगड़ाई ले उठा है। "गद्य में यह भारतीय मजदूर-जीवन का महाकाव्य है। भारतीय जन-जीवन का महाकाव्य, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यंत प्राचीन भी है और जागरण के लिए संघर्ष भी कर

रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिंदी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है।"

उसके बाद ही एक बहुत बड़ा तूफान आनेवाला था। पर, समय के पहले ही काल ने हमसे हमारा प्रेमचंद छीन लिया।

कहानियों में भी वही आग, वही जागरूकता। कहानीकार के रूप में कदाचित वे अधिक सफल हो सके।

प्रेमचंद की हर कृति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गुलामी की जंजीर पर एक करारी चोट है।

खड़ी बोली के शब्द-शब्द में उसने प्राण भर दिए। भाषा में अपने जीवन की सादगी उतार कर रख दी—सादगी वह, जो अभिभूत कर ले।

इन उतुंग शिखरों के इर्द-गिर्द कुछ और छोटे-बड़े शिखर दिखाई पड़ते हैं, जो उल्लेखनीय हैं—हरिऔध और रामनरेश त्रिपाठी, सुदर्शन, गुलेरी और वृंदावनलाल वर्मा, मिश्रबंधु और पद्मसिंह शर्मा।

हरिऔध ने 'प्रियप्रवास'-जैसा महाकाव्य दिया—राधा और कृष्ण को नए युग की नई आँखों से देखा। 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' और 'ठेठ हिंदी का ठाट' लिख कर खड़ी बोली के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए, जिनसे भाषा पर उनका विलक्षण अधिकार परिलक्षित होता है।

'स्वप्न' और 'पथिक' के यशस्वी कलाकार श्री रामनरेश त्रिपाठी को कौन नहीं जानता! कोमल कान्त पदावली में "देशभक्ति और प्राकृतिक सुषमाओं का सजीव चित्रांकन—ये उनमें काव्य की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं।

'न्याय-मंत्री', 'हार की जीत' और 'कवि की पत्नी' जैसी कहानियाँ हिंदी-साहित्य को सुदर्शन की अमर देन हैं।

गुलेरी की 'उसने कहा था' जैसी कहानी हिंदी में ही क्या, किसी भी भाषा के साहित्य में कम ही लिखी गई।

'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'मृगनयनी' जैसे दर्जनों रोमांचकारी ऐतिहासिक उपन्यासों के स्रष्टा श्री वृंदावनलाल वर्मा हिंदी कथा-साहित्य के ऐसे गौरव-शिखर हैं, जिसका जोड़ नहीं मिलता।

हिंदी साहित्य का इतिहास, देव और बिहारी—ऐसे ग्रंथ लिखकर मिश्रबंधु ने आलोचना को नेतृत्व प्रदान किया। बाद को इस प्रदेश में प्रवेश करनेवाले हर किसी ने इस आकाश-दीप से प्रकाश और प्रेरणा ग्रहण की।

पद्मसिंह शर्मा अपने ढंग के अकेले थे—प्रभाववादी आलोचकों के नेता। उन्होंने चाशनी में लेखनी डूबो कर लिखा, नमक-मिर्च मिलाकर लिखा—और ऐसा लिखा कि बस। अनुकरण बहुतों ने किया, पर अनुकरण आखिर 'अनुकरण' ही है।

निर्माण के पथ पर लगातार बीस वर्षों तक युग-निर्माता के चरण गतिशील रहे—साहित्य-साधकों की टोलियाँ चलती रहीं, आगे बढ़ती रहीं। चरण अदृश्य हो गए; पर चिह्न अब भी शेष हैं, जो कहते हैं—उन्होंने कैसी कठोर साधना की होगी।

द्विवेदी-युग के इन गौरव-शिखरों की जय! पर्वतमाला के हर शिला-खंड पर श्रद्धा के दो-दो फूल!!

टूटती कड़ियाँ

(आधुनिक युग)

'ले चल मुझे सुलावा देकर'

(छायावाद-युग—१९२०-३६ ई०)

ईसा की बीसवीं शताब्दी किशोरावस्था में थी। चौदहवाँ लगने को था कि यूरोप के आँगन में युद्ध की आग भड़क उठी।

एक दिन अस्ट्रिया ने सर्विया से कहा—"पड़ोसन! आज तुझसे लड़ने को जी चाहता है।" और, सर्विया भागी-भागी रूस की शरण जा पहुँची। ज़ार ने अस्ट्रिया को संदेशा भेजा—"तबियत ही आ गई हो, तो उस बेचारी को क्यों तंग करती हो। मुझी से लड़ लो न!" और, अस्ट्रिया जर्मनी के दामन में दुबक कर सिसक उठी—"प्रियतम! क्या मैं यही दिन देखने को जीवित थी?" फिर तो जर्मनी को गुस्सा आ गया। मूछों पर ताव देकर बोला—"ऐं! ज़ार की ये मज़ाल? ठहरो, अभी देखता हूँ।"

और, बात की बात में मैदान लग गया। रूस के पार्श्व में फ्रांस जा खड़ा हुआ। जर्मनी शत्रु को ललकारता हुआ रण-क्षेत्र में उतर आया पर, फ्रांस को रूस की मदद करता देखकर जल उठा। उसने चाहा, बेलजियम की छाती पर पाँव रखकर फ्रांस के आँगन में कूद पड़े। पर, वहीं बेलजियम के मित्र ब्रिटेन ने टोका—खबरदार, जो आगे बढ़े! चढ़ाई भी कर दी। जर्मनी की आँखों में खून उतर आया।

फिर सन-सन! धाँय-धाँय!! गड़-गड़-डम!!!--गोलियों की बौछार, बमों की गड़गड़ाहट। गैस और धुएँ के बादलों में वायुयान मँड़रा उठे। आह, कराह और करूण चीत्कार। बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ—लाशों के अंबार। गाँव, शहर और देश—धूल और राख के पर्वत। मौत का आतंक! विध्वंस की विभीषिका!! इंगलिश चैनल और उत्तरी सागर का पानी लाल हो उठा।

इस तमाशे में ५६ अरब पौंड खर्च हुए, ३ करोड़ जानें गईं।

सभ्यता की कितनी बड़ी उपलब्धि थी यह—आदमीयत का खून!

* * *

इधर राख की चादर तानकर चिनगारी सो रही थी। महायुद्ध का तूफान आया। और, राख उड़ चली। चिनगारी भड़क उठी--सन् बीस का असहयोग-आंदोलन!

इंकलाब जिंदाबाद! भारत-माता की जय!!—दिशाएँ गूँज उठीं। देश अँगड़ाई ले उठा। सात लाख गाँवों में आग लग गई।

झन-झनन्-झनन्! झन-झनन्-झनन्!! आगे-आगे हड्डियों का ढाँचा महात्मा गाँधी, पीछे-पीछे नंगी-भूखी जनता की अपार सेना। मशीनगन और बम नहीं, बंदूक और पिस्तौल नहीं, तीर और तलवार भी नहीं——यह निहत्थों की सेना थी।

यह गुलामी के खिलाफ आजादी की लड़ाई थी। बंदूक और बैनेट पर, मशीनगन और बम पर नंगी छातियों का आक्रमण—हिंसा को अहिंसा की चुनौती। महायुद्ध ने विश्व के भविष्य पर जो लाल प्रश्न-चिह्न अंकित कर दिया था, यह उसका जवाब था—शानदार जवाब!

पर, स्वीकृत होने के पहले सत्य की कठोर परीक्षा होती है।

ब्रिटिश-साम्राज्य की प्रतिहिंसा भभक उठी। बैनेटें चमक उठीं। लाठियाँ और गोलियाँ चलने लगीं। न्याय माँगने वाले जेल के सींखचों में ठूँस दिए गए।

*   *   *

शृंगार के खिलाफ द्विवेदीजी डंडा लिए खड़े थे। पर, कॉलेजों में सूट-बूट और टाई वाले विद्यार्थी वर्ड्सवर्थ और बायरन घोंट रहे थे, शेली और कीट्स चाट रहे थे। प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक साधना के दीप जलाए बैठे थे। उनकी उपलब्धियों पर मनुष्य चकित हो-हो उठता था। तभी हवा पर कोई दूरागत स्वर संतरण कर उठा—'लेट अस रिटर्न टु दी माउंटेंस ऐंड मीडोज।' यह रूसो का स्वर था।

इन तमाम परिस्थितियों ने मनुष्य के विचारों में तूफान ला दिया, भावनाओं में मंथन उत्पन्न कर दिया। यह तूफान, यह मंथन जब काव्य का रूप धारण कर प्रगट हुआ, हिंदी में छायावाद आया।

युद्ध की आग। अँगरेजी-शासन का दमन-चक्र। साक़ी और सुरा पर द्विवेदी जी का सेंसर। आखिर आदमी जिए तो कैसे? बाहर की दुनिया से निराश होकर, कवि भीतर की दुनिया में लौट चला—आत्म-केंद्रित हो गया। यहीं **व्यक्तिवाद** ने जन्म लिया—पहले अहम्, और फिर इदम्। **भावुकता** आकाश छूने लगी। कविता आँसुओं से भींग उठी।

कल्पना के लोक में दुनिया की दाल नहीं गलती। तभी कवि चाँद और सितारों के देश में उड़ चला। कल्पना उसके लिए सत्य से अधिक सुखद और इसीलिए अधिक महत्वपूर्ण हो उठी। क्या यह पलायन नहीं था?

'**प्रकृति** की ओर लौट चलो'—यह रूसो की आवाज थी। पर, यही तो हर दिल की आवाज थी। दूसरा चारा भी क्या था? कवि को लगा, **प्रकृति** उसे बुला रही है।

निषेध उत्कंठा उत्पन्न कर देता है। जब चट्टान अड़ती है, प्रवाह और भी उग्र हो उठता है। आचार्य द्विवेदी ने जितना रोका, **नारी के प्रति कवि का आग्रह** उतना ही प्रबल होता गया। अंत में नैतिकता हारी, प्रकृति जीत गई। पर, पूरी निर्भयता शायद तब भी न आ सकी।

द्विवेदी-युग में मोटी-मोटी बातें कही जाती थीं। इस युग में कवि महीन बातें कहने लगा। स्थूलता का स्थान सूक्ष्मता ने ले लिया!

कविता की भाव-भूमि बदली। इसलिए भाषा और शैली भी बदल गई—प्रतीकों के अधिक-से-अधिक प्रयोग, लक्षणा और व्यंजन की प्रधानता; गीति-तत्त्व का प्राचुर्य।

व्यक्तिवाद, भावुकता और कल्पना, प्रकृति, नारी और सूक्ष्मता के प्रति आग्रह—इन तत्त्वों से भरपूर, नई भाषा-शैली का रेशमी चीर पहन कर, जो कविता हिंदी के आँगन में आई, उसे ही लोगों ने छायावाद के नाम से पुकारा।

गंगा शंकर की जटा से प्रगट हुई थी। हिंदी की यह नई काव्य-धारा जयशंकर की लेखनी से प्रगट हुई। कदाचित वे छायावाद के पहले कवि थे।

* * *

काशी के एक नुक्कड़ पर जर्दे की दूकान। ग्राहकों की भीड़ आ-जा रही थी। दूकानदार उनसे निबटता और अपने आस-पास बैठे मित्रों से बातचीत करने लग जाता।

और, अपनी दूकान पर अभिभावक से लग कर एक भोली सी बालिका (?) खड़ी थी—पूनम के चाँद-सा गोल, गोरा मुख, कंधों पर बल खाते बाल, आँखें—जैसे गहरी-नीली-झील। नाक में बुलाक, बदन पर फ्रॉक और घाँघरी। कभी आस-पास बिखरी पड़ी चीजों से

खेलती, कभी कौतूहलपूर्वक अपने अभिभावक और उनके मित्रों को देख उठती, मानो उनकी बातें समझ लेने का प्रयास कर रही हो।

तभी घूमते-घुमाते कहीं से एक ज्योतिषी महाराज आ पहुँचे। वार्तालाप का क्रम टूट गया। सबका ध्यान उसी ओर खिंच गया। दूकानदार ने आग्रह किया—"बाबा! जरा इस बच्ची का हाथ तो देखिए।" और, बाबा बच्ची की बायीं हथेली पर दो मिनट गंभीरतापूर्वक न जाने क्या कुछ देखते रहने के बाद हठात् बोल उठे—"बड़ी लक्ष्मी है बिटिया, बड़ी सौभाग्यवती।...जिस घर में जायगी, वह घर..." अभी और न जाने क्या-क्या कहते कि बीच ही में दूकानदार ने उसकी घाँघरी अलग कर दी और लोग ठठा कर हँस पड़े।

ज्योतिषाचार्य चुपके से निकल गए।

बालिका के वेश में वह बालक एक दिन पुरुष के वेश में नारी बन कर प्रगट हुआ और साहित्य की दुनिया उसके रूप पर मुग्ध हो उठी।

छुटपन में माँ का स्नेहांचल छूटा। बड़ा हुआ, तो पिता चल बसे। दायित्वों का बोझ सर आ पड़ा। अब वह उसी दूकान पर बैठा सौदा बेचता, एकांत क्षणों में पुर्जों की पीठ पर पंक्तियाँ जोड़ा करता।

दुःख-तकलीफ और वेद-उपनिषद्—इन सबने मिल कर उसे असमय ही दार्शनिक बना डाला। शायद अच्छा ही किया।

स्वस्थ शरीर, दमकता मुखमंडल, गंभीरता और सरसता का अद्भुत समन्वय—पर, जवानी के साथ ही टी० बी० भी आई—टी० बी०, जो मौत का पर्याय होती है।

'प्रसादजी' हम से असमय ही छिन गए। पर, उनका प्रसाद अब भी हमारे हाथों में है—'आँसू' और 'झरना', 'लहर' और 'कामायनी', कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंध।

ऐसी प्रतिभा युगों के बाद आविर्भूत हुआ करती है। साहित्य के प्रत्येक कक्ष में उसने प्रवेश किया और कलम की नोक से नवयुग का घूँघट उघार दिया। उसके संस्पर्श से नए साहित्य का अंग-अंग पुलकित हो उठा।

कह डालने की बेक़रारी, नहीं कह पाने की लाचारी; मौन भी और मुखर भी—यह है प्रसाद के 'आँसू' का रूप। दर्शन की चादर ओढ़ कर वह रहस्यमय हो उठा है। पर, चादर के भीतर से रूप और यौवन की माया झाँकती है, लौकिक प्रेम का रंग छलकता है। वस्तुतः 'आँसू' रहस्य के भ्रम में लिपटा हुआ एक लौकिक प्रेम-काव्य है।

'झरना' में भी वही संकोच है, वही सलज्ज भाव। पर, 'आँसू' की अपेक्षा उसमें कदाचित अधिक स्पष्टता है।

'लहर' में रंगों और रसों की विविधता है। रहस्य की छाया प्रकृति की रस-धारा इतिहास के शिलाखंड सभी तो हैं उसमें।

यह आनंद की लहर है, जो आती है और स्मृति-चिह्न छोड़ कर चली जाती है, जैसे नदी की रेत पर पसलियों की-सी रेखाएँ।

सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल सिहर।

रहस्यवादी की तरह प्यार में आकुल होकर कवि बोल उठता है—

'तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस-जलधि रहे चिर चुंबित,
मेरे क्षितिज उदार बनो।'

और 'बीती विभावरी जाग री' में उषा की सुंदरता मानो मूर्त्त हो उठी है। प्रकृति के ऐसे सुंदर और सरस गीत किसी भी भाषा के साहित्य में कम ही लिखे जा सके।

अशोक की चिंता और शमशेर सिंह का आत्म-समर्पण-जैसी ऐतिहासिक कविताएँ भी लहर में संग्रहीत हैं।

'कामायनी' छायावादी कविता का उच्चतम शिखर है—नए साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि।

यह महाकाव्य सृष्टि और संस्कृति की मनोरंजक कहानी है, आधुनिक युग की समस्याओं का एक सामान्य समाधान भी।

यवनिका उठती है। प्रलय के बाद का दृश्य सामने आता है। मनु हिमालय के शिखर पर चिंतित बैठे हैं। श्रद्धा आती है। प्रेम होता है। गृहस्थी बसती है। मानव का जन्म भी हो जाता है। पर, मनु एक दिन श्रद्धा से झगड़ कर चल देते हैं—सारस्वतप्रदेश, जहाँ ज्ञान-विज्ञान अपने चरम उत्कर्ष पर हैं।

इड़ा अपने राज्य का सारा प्रबंध मनु के हाथों सौंप देती है। पर, वे वासनावश एक दिन इड़ा के हाथ पकड़ लेते हैं। वह चीख

उठती है—'मैं तुम्हारी बेटी की तरह हूँ।' पर, मनु नहीं मानते। फिर तो देवता की कोपाग्नि भड़क उठती है। आँधी, तूफान और उलकापात—प्रलय के सारे दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। विक्षुब्ध प्रजा मनु पर आक्रमण कर बैठती है। वे लड़ कर घायल और बेहोश हो जाते हैं।

तभी मानव को गोद में लिये अपने मनु को खोजती-ढूँढ़ती श्रद्धा आ पहुँचती है। उसका सहारा पाकर मनु उठ खड़े होते हैं और उन दोनों की नई यात्रा प्रारंभ होती है। मानव को इड़ा के संरक्षण में छोड़ कर श्रद्धा मनु का हाथ पकड़े हिमालय के शिखरों की ओर अग्रसर होती है। विभिन्न लोकों को पार कर दोनों आनंद-लोक में जा पहुँचते हैं और उनकी नई-यात्रा समाप्त होती है।

कहानी अपने आप में कम मनोरंजक नहीं। पर, इसका एक दूसरा पहलू भी है। मनु यहाँ मन के प्रतीक हैं। श्रद्धा हृदय है; इड़ा बुद्धि। प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य हृदय-प्रधान था। जब तक ऐसा था, ठीक था। मनुष्य जबतक श्रद्धा की प्रेरणा पर चलता रहा, ठीक रहा। पर, एक दिन श्रद्धा की उपेक्षा कर वह बुद्धिवादी हो उठा। ज्ञान और विज्ञान उसके चरणों पर लोट गए। पर, जीवन की शांति लुट गई।

आज यही तो हो रहा है। मनुष्य सारस्वतप्रदेश (विज्ञान के प्रदेश) में घायल पड़ा है। जबतक श्रद्धा आकर सहारा नहीं देती —जबतक इच्छा, ज्ञान और कर्म में संतुलन स्थापित नहीं हो

पाता, सच्चे आनंद के लोक तक जा पहुँचना उसके लिए सर्वथा असंभव है।

बुद्धिवाद के इस युग में दुनिया को 'प्रसाद' ने हृदयवाद का संदेश दिया है।

प्रकृति के चित्र बड़े ही सुंदर बन पड़े हैं—कहीं कोमल, कहीं कठोर।

महाकाव्य के बहुत सारे लक्षण 'कामायनी' में नहीं मिलते। पर, कदाचित यह कसौटी की ही अयोग्यता है।

प्रसाद को भाषा पर असाधारण अधिकार था, उनकी हर रचना इस बात का प्रमाण है।

* * *

कलकत्ते में हाई स्कूल की परीक्षा चल रही थी। परीक्षार्थी कॉपियों में सर गड़ाए कलम घिस-घिस कर रहे थे। सभी अस्त-व्यस्त! सभी परेशान!! पर, एक था जो इतमीनान के साथ गणित की कॉपी पर पद्माकर के सवैए लिखता चला जा रहा था।

कितना प्रसन्न हुआ होगा, उसका परीक्षक!

एक बार किसी ने उससे कह दिया—'प्रतिभाशाली व्यक्ति परीक्षाओं के चक्कर में नहीं फँसते। स्वयं भी रवींद्र तो नाइन्थ ही पास हैं।' फिर तो नाइंथ के बाद उसने कभी परीक्षा ही नहीं दी। उसे रवींद्र जो बनना था।

और, सचमुच आज वह हिंदी का रवींद्र है—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'।

पर, रवींद्र ऐश्वर्य में पला, निराला अभावों में। तभी रवींद्र में नारी सिसकती है, निराला में पौरुष गरजता है। उसमें आकार पाकर पौरुष धन्य हो उठा—छः फुट से भी अधिक लंबा, विशाल वक्षस्थल, मांसल भुजाएँ। अन्याय के विरुद्ध सदैव कलम से पहले उसके हाथ उठे और कलम ने हाथ से भी ज्यादा करारी चोट की।

वह हिमालय है—'युग-युग अजेय, निर्बंध-मुक्त'। तूफान आए ! वज्र गिरे !! वह डिगा नहीं।

वह हिमालय है—संसार की पीड़ा पर उसका दर्द गंगा-यमुना बन कर बह निकला।

पहलवान भी, कवि भी, संगीतकार भी—वह सचमुच निराला है। स्वयं उपेक्षा, अपमान और अभाव के शूलों पर चल कर भी उसने हिंदी का दामन फूलों से भर दिया—'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'नए पत्ते' और 'अपरा'। आध दर्जन उपन्यास; डेढ़ दर्जन अनुवाद, कहानियाँ, रेखाचित्र, नाटक, निबंध और जीवनियाँ। पर, यह अंत नहीं। शायद भविष्य के गर्भ में अभी और भी बहुत कुछ है।

'जुही की कली' को कवि ने अपनी पहली महत्त्वपूर्ण रचना माना है।

इसमें पत्रांक पर सोई हुई जुही की कली और दूरागत मलय-पवन के माध्यम से नायक-नायिका की प्रेम-क्रीड़ा का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है। नायिका जब जाग उठती है, उसे प्रिय के दर्शन

होते हैं—इसमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का भाव है, ऐसा कवि ने माना है।

इसे छायावाद की प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता है।

पर, उस समय तो 'सरस्वती' के संपादक ने इसे अस्वीकृत कर इसकी अवज्ञा ही की थी।

'रेखा', 'तुम और मैं'—ऐसी कविताओं में कवि जहाँ रहस्यवादी बनकर सामने आया है, वहाँ 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर'—जैसी कविताओं में प्रगतिशील बन कर। उसकी भाव-भूमि उस आकाश की तरह है, जो संपूर्ण धरती पर छाया रहता है।

कल तक कविता छंदों की जंजीरों में जकड़ी थी, आभूषणों के भार से दबी जा रही थी। उसे मुक्त किया, निराला ने। उसके हृदय का ज्वार बूढ़े छंद की शिथिल भुजाओं में समा न पाया और नई राह बनने को मजबूर हो गई। मुक्त छंद का जन्म हुआ। पर, इस मुक्त छंद में भी ताल और लय हैं, गति और झंकार हैं। हाँ, तुक के प्रति आग्रह नहीं, रूढ़ियाँ नहीं। कवि अपनी कविता से बोल उठता है—

> आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
> अर्द्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू,
> प्रिये! छोड़ कर बंधनमय छंदो की छोटी राह,
> गजगामिनि! वह पथ तेरा संकीर्ण,
> कंटकाकीर्ण।

'तुलसीदास' में छंद की नवीनता के साथ-साथ कवि ने अपनी कल्पना की मौलिकता का भी अच्छा परिचय दिया है। 'राम की शक्तिपूजा' भी कवि की एक ऐसी ही सफल रचना है।

संगीत और काव्य को अधिक से अधिक निकट ला देने का प्रयास निराला ने सबसे अधिक किया है। 'गीतिका' के छंद इस बात के प्रमाण हैं। एक उदाहरण—

अमरण भर वारण-गान,
वन-वन, उपवन-उपवन,
जागी छवि, खुले प्राण।

निराला समझ में नहीं आता—निराला जो ठहरा! पर, इसमें उसका ही नहीं, समझनेवालों का भी दोष है। बाद की रचनाओं के प्रति तो ऐसी शिकायत नहीं ही की जा सकती।

निराला को दुनिया आज नहीं, कल जरूर समझेगी। हर येसु, हर मंसूर, यहाँ पहले सताया जाता है, फिर समझा जाता है। पहले शूली, फिर पूजा!

* * *

हिमालय की तलहटी। अल्मोड़े से बत्तीस मील उत्तर कौसानी नाम का गाँव। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखर—बर्फ के मुकुट पहने, उजले-उजले, चमचम। ऊपर आकाश का नीला चँदोवा। नीचे झरने और पहाड़ी पेड़ों के झुरमुट। गहरे हल्के रंगों के फूल,

कोंपल। सुगंध-भरी हवा। पत्तों का मर्मर। दूर-दूर तक फैली हरियाली में चिड़ियों की चहक—टी-वी-टुट्-टुट् !!.......

कोई पैंतालीस साल हुए होंगे, कौसानी के इस पार्वत्य प्रदेश में एक 'छोटा-सा चंचल किशोर' रहा करता था। पतला-छरहरा, कंधों तक झूलती हुई रेशमी लटें—विधाता ने उसे स्वयं अपने हाथों गढ़ा था।

हरियाली उसे बुलाती। चिड़िया गा-गा कर रिझाती। पहाड़ों में, वृक्षों और लताओं में वह बावरा-सा घूमता फिरता।

सुबह जब किरण हिम-शिखरों पर मुस्कुरा कर बोल उठती—'लो, मैं आ गई', तब वह फूला न समाता। पर, जब शाम होती और गुमसुम, उदास वह विदा लेने लगती, तब हृदय भर आता। 'हर-हर' कर बहते हुए झरने के किनारे, निर्जन शिलाखंडों पर बैठा, वह भोला चकोर शरत् का चाँद निहारा करता।

जब रिमझिम आषाढ़ आता और मेघमाला सतरंगी चूँदर पहन कर, आसमान के आँगन में थिरक उठती, वह भाव-विभोर हो जाता।

प्रकृति ने उसे मीठे सपने दिए! जब बड़ा हुआ, उसने उन सपनों को वाणी दे दी। प्रकृति पहली बार एक ऐसी भाषा में बोल उठी जिसे किसी ने सुना, गुना और समझा।

प्रकृति के उस लाड़ले को दुनिया ने 'पंत' कह कर पुकारा। अविवाहित होकर भी आज वह दर्जनों रचनाओं का पिता है—

'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रंथि' और 'गुंजन'; 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'; 'स्वर्ण-धूलि', 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' और 'अतिमा'।

'वीणा' में कवि ने प्रकृति को मा के रूप में देखा है :—

'मा, मेरे जीवन की हार,
तेरा उज्जवल हृदय-हार हो,
अश्रु कणों का यह उपहार।

दुनिया के सारे आकर्षण एक ओर—मा की ममता एक ओर। जिसकी गोद में वह पला, फूला-फला, आज उसी को छोड़ दे ?—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले, तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन ?

'वीणा' की सारी रचनाएँ इसी मोह से भरी हैं। फूल-पत्ते, बादल, इंद्र-धनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या—प्रकृति के ये तत्त्व स्वर की साधना पाकर गीत बन गए हैं।

'वीणा' की भावना ही, जब जवान हुई, 'पल्लव' बन गई। 'प्रकृति-सौंदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना उसमें अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है।'

'ग्रंथि' एक वियोगांत खंड-काव्य है।

'ज्योत्स्ना' उस प्रश्न का उत्तर है, जिसे महायुद्ध ने मनुष्य के भविष्य पर खून से अंकित किया था। कवि कहता है—पूरब

का अध्यात्मवाद और पश्चिम का जड़वाद, इन दोनों के सुखद समन्वय से ही संसार का कल्याण संभव है।

'गुंजन' में ज्योत्स्ना का यही सत्य व्यक्तिगत होकर गुंजित हो उठा। प्रकृति का गायक जीवन और जगत् की कंकड़ीली पगडंडियों पर उतर कर विचारक बन बैठा। उसने सुख-दुःख पर विचार किया, राह से भटके हुए जीवन के बटोही को दिशा दी। 'गुंजन' में भावों की सचाई कितनी है, क्या मालूम ? चिंतन की गहराई जरूर है।

'युगांत' प्राचीन और नवीन युग का संधि-शिखर है। रात बीत चुकी है, सुबह आनेवाली है। कवि स्वागत का सामान लिए आनेवाले युग की प्रतीक्षा कर रहा है।

'युगवाणी' पूरब और पश्चिम—अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय का प्रयास है।

'युगवाणी' का ही चिंतन जब भावना के रस में भींगकर कोमल-मधुर हो उठा, हिंदी को 'ग्राम्या' का वरदान मिला। 'ग्राम्या' सत्य को सुंदर बनाकर प्रस्तुत करने का सुंदरतम प्रयास है। गाँव के सरस-मधुर चित्रों का ऐसा जीवंत अलबम शायद ही कहीं मिले !

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में नवयुग की चेतना अँगड़ाई ले उठी है।

पर, कवि में दार्शनिक बनने की झूठी भूख का जागना चींटी के पर लगना है। जहाँ उधार-पैंचा लेकर दार्शनिक बनने के फेर में आज के पंत ने जितना पाया, कहीं उससे अधिक खोया ही है।

पर, वह न होता तो भाषा को सरसता और सुकुमारता कौन देता ?

* * *

सन् सात की बात है। सरस्वती को देह धारण करना पड़ा। उत्तर प्रदेश के प्रतिष्ठित कुल में एक कन्या उत्पन्न हुई। जब कुछ बड़ी हुई, शिक्षा का प्रबंध किया गया। पर, उसे तो चाँद बुलाया करता, तारे इशारे देते। बादल और इंद्र-धनुष को देखकर वह भोली-सी बालिका मुग्ध हो उठती।

दुपहरिया में जब घर के लोग काम-काज से निश्चिंत होकर झपकियाँ लेते रहते, मा या चाची की सिंदूर की डिबिया चुराकर वह फ़र्श पर रंग भरा करती। पकड़ी जाने पर पिटती भी। पर, आकाश के नीले पर्दे पर बनने-बिगड़ने वाले चित्र जैसे उसमें फिर-फिर प्रेरणा भर देते।

जब रात हो आती, पढ़ने को बैठना होता। पर, स्लेट पर गणित की जगह तुक मिलाए जाते।

बचपन की यही क्रीड़ा एक दिन जीवन की संपूर्ण साधना बन गई। तब, रेखाएँ बोल उठीं। शब्द सजीव हो उठे। कलम और तूलिका से खेलनेवाली वह अल्हड़ बालिका कला की देवी बन बैठी—'महादेवी'। उसने 'यामा' और 'दीप-शिखा' दी—चित्रमय काव्य और काव्यमय चित्र। गद्य तक उसकी रंगीन कलम का

पुलक-स्पर्श पाकर रंगीन हो उठा—'अतीत के चलचित्र', 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'स्मृति की रेखाएँ'।

वह शायद कला के परिचय का पहला दिन था, जब उसे लगा—क्षितिज के उस पार कोई वंशी में स्वर भर रहा है। कोई भूली हुई-सी बात याद हो आई। स्वर परिचित-सा लगा—चिर-परिचित। वह परमात्मा की पुकार थी ; आत्मा को उससे विलग होकर ही तो संसार में आना पड़ा। महादेवी की आत्मा वियोग में तड़प उठी, मिलन की उत्कंठा से विह्वल हो उठी।

ऐसा ही तो कभी कृष्ण की गोपियों को लगा होगा, मीरा को लगा था।

पर, 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' महादेवी ने पीड़ा में प्रियतम को पा लिया और हृदय की हर कसक गीतों में मूर्त हो उठी।

'नीहार' 'यामा' का प्रथम याम है। उसमें किसी अज्ञात-लोक से पुकार आती है—न जाने कौन पुकार उठता है। पर, हृदय में वेदना-सी जग जाती है।

'रश्मि' (दूसरे याम) में उस अज्ञात प्रियतम का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। जीवन, मृत्यु, मुक्ति और अमरता का भी मूल्यांकन होता है। वेदना मधुर हो उठती है।

'नीरजा' में प्यार और प्रतीक्षा के दर्दीले गीत हैं।

'सांध्य-गीत' में कवयित्री अपने पथ पर काफी दूर निकल गई है। प्रिय के प्रति उपासना का भाव प्रबल हो उठा है। इस संग्रह के अनेक गीतों में संध्या का रूपक बाँधा गया है—

'प्रिय सांध्य गगन, मेरा जीवन।'

पर, अभी मंजिल दूर है और पथ ही में रात हो गई। साधिका प्राणों के दीप जलाकर आगे बढ़ती है। थकती है, पर विश्राम नहीं लेती। झंझा के झकोरे आते हैं, पर दीप की लौ नहीं डोलती। आधी रात बीत चली। अब तीसरा पहर बीतने को आया। कवयित्री बोल उठती है—

'शेष यामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण!'

'दीपशिखा' के इक्यावन गीतों में राही की इन्हीं भावनाओं को कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है।

पर, जो भावनाएँ छंदों के छोटे पैमाने में न समा पाई, छलक-कर रंगों और रेखाओं में ढल गईं। 'यामा' और 'दीपशिखा' के चित्र इस बात के प्रमाण हैं।

प्रसाद, पंत, निराला सभी तो छायावाद के छाया-वन में राह से भटक गए। पर, सघन-कुंजों के उस पार, रहस्यलोक की ओर जानेवाले ज्योति-पथ पर आज भी दो कोमल और सुकुमार चरण अविराम चल रहे हैं।

अभी न जाने कितनी दूर, है पिया का देश!

*   *   *

इधर छाया-वन में रास की मुरली गूँज रही थी, उधर जीवन के काँटों-भरे पथ पर कोई मस्ती और प्यार के गीत गाए फक्कड़-सा झूमता चला जा रहा था।

हम दीवानों की क्या हस्ती, हम आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले॥

हाँ, वह दीवाना था, मस्ताना था—भगवतीचरण वर्मा। पर, न जाने क्यों, रूप और जवानी का वह गायक एक दिन गीतों की दुनिया से रूठ कर कथा के देश चला गया।

* * *

कि सहसा यह किसका स्वर गूँज उठा—

छुप-छुप कर सारा जग पीता,
पीता न अगर कैसे जीता?

और, छुप-छुप कर पीनेवाली दुनिया चौंक उठी। मधुशाला के द्वार पर भीड़ ठिठकी खड़ी थी—आँखों में तृष्णा, कंठ में प्यास, प्यास पर लोक-लाज का पहरा। पर, कोई था, जो सबके सामने पिए जा रहा था—निडर, मस्त, लापरवाह।

वह था बच्चन—मिट्टी का तन, मस्ती का मन! उसने रूप और जवानी के गीत गाए। उसने प्यार के सुख और विरह के दर्द को भाषा दी। उसमें अनुभूति की तीव्रता और भाषा की चोट करने वाली सादगी है। तभी उसके गीतों की कड़ियाँ कलेजे में चुभ जाती हैं।

'मधुशाला', 'मधुबाला', 'निशा-निमंत्रण', 'आकुल-अंतर', 'एकांत-संगीत', 'मिलन-यामिनी' और 'खादी के फूल'—बच्चन की इन कला-कृतियों से कौन परिचित नहीं ?

*　　　*　　　*

छाया-वन के निकट, पर मधुशाला के कोलाहल से दूर, एक साधक अपनी अलग धूनी रमाए बैठा था—सियारामशरण गुप्त। युग-पुरुष गाँधी के आदर्शों ने उसे प्रेरणा दी, प्रभावित किया। व्यक्तिगत चिंतन और अनुभूति तथा जीवन के स्वानुभूत तथ्य उसकी कला के आधार हैं।

मानव-संस्कृति के उस कलाकार ने हिंदी को 'मौर्य-विजय', 'दूर्वा-दल', 'पाथेय' और 'बापू'-जैसी उच्च कोटि की कविताएँ दीं, कहानी, उपन्यास और निबंध दिए।

घर-फूँक मस्ती के कवि श्री बालकृष्णशर्मा 'नवीन' और 'नूरजहाँ' के सुप्रसिद्ध प्रकृति-प्रेमी कलाकार श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त'—ये भी इसी युग के गौरव हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी' और सोहनलाल द्विवेदी; मोहनलाल महतो 'वियोगी', अज्ञेय, श्यामनरायण पांडेय और उदयशंकर भट्ट—ऐसे कितने ही प्रतिभाशाली कवियों ने छाया-वन के आस-पास यज्ञ की वेदियाँ बना कला की साधना की।

'कैकेई' और 'ततगृह' के समर्थ स्रष्टा 'प्रभात'; 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के कवि अंचल—ये कम महत्त्वपूर्ण नहीं। नरेंद्र के

सरस, मधुर-गीत इसी युग में लिखे गए—'कर्ण-फूल', 'प्रभात-फेरी' और 'प्रवासी' के गीत।

दिशा-दिशा से गीत की धाराएँ फूट पड़ीं :—

'किसने बाँसुरी बजाई ?'........यह गीतों के कोमल कलाकार पं० जानकीवल्लभ शास्त्री का मधुर स्वर था, जिसने 'शिप्रा', 'गाथा' और 'अवंतिका'-जैसी कृतियाँ हिंदी को दीं।

'यह जीवन क्या है ? निर्झर है'......यह आरसी बोल उठा—'कलापी' का रचयिता।

'कल्पना करो नवीन, कल्पना करो......' यह कौन ? नेपाली—'पंछी' और 'रागिनी' का गायक !

'मयूर नाचता रहा, खुले न मेघ के नयन.....'—यह रामदयाल की कड़ी थी—'गणदेवता' और 'अशोक' के समर्थ कलाकार की।

'चाँद से दूर है चाँदनी.......'—यह है हंसकुमार तिवारी—'अनागत' का गायक—भावुकता और विद्वत्ता का सुखद समन्वय।

अभी छायावाद का कुहासा छाया ही था। रह-रह कर झुरमुट से खग-कुल 'कुल-कुल-सा' बोल उठता था कि हठात पूरब के क्षितिज पर दिनकर की रश्मियाँ मुस्कुरा उठीं। नवयुग अँगड़ाई ले उठा।

*

'जाग - जाग री, क्रांति-कुमारी !'

(प्रगतिवाद-युग—सन् १९३९—)

धाँय-धाँय !

सन-सन !!

गड़-गड़-डम !!!

एकबार फिर बीसवीं शताब्दी का दामन खून से लाल हो उठा।

दुनिया ने सहमी हुई आँखों से देखा ; यूरोप की जख्मी छाती पर फ़ासिज्म का दानव खड़ा था—-जर्मनी ! फ्रांस थर-थर काँप रहा था। ब्रिटेन के छक्के छूट रहे थे। पर रण-चंडी संतुष्ट नहीं हो रही थी।

घुटने टेक कर ब्रिटेन बोल उठा—'क्षमा करो, भवानी ! एशिया के आँगन में हमारा बलि-पशु बँधा है। हम अभी सेवा में प्रस्तुत करते हैं।' और, वह भागा-भागा हिंदुस्तान आ पहुँचा। पर, रॉलट ऐक्ट, पंजाब-हत्याकांड और मार्शल लॉ से झुंझलाया हुआ देश बार-बार जंजीरें झनकार रहा था। हृदय में विद्रोह की आग

कसमस कर रही थी। ब्रिटेन ने उसे खूँटे से खोल कर ले चलना चाहा। पर, वह गरजा—पहले हमारे बंधन खोलो, फिर बातें करो। धूर्त्त मालिक ने पुचकारा, पीठ सहलाई, डाँट बताई। पर, एक न चली। झुंझला कर बोला—तो फिर भूखे मरो।

और, देखते ही देखते अकाल की आग धधक उठी। बंगाल जल कर राख हो गया। कलकत्ते के फुट-पाथ लाशों से पट गए।

पर, उस दिन लाशें बोल उठीं—अँगरेजो ! भारत छोड़ दो !

उस दिन बूढ़ा हिमालय गरज उठा—'अँगरेजो ! भारत छोड़ दो।' हिंद-महासागर की लहरों पर बंदी की जंजीरें बज उठीं—'अँगरेजो ! भारत छोड़ दो !!'

आसाम और बर्मा के जंगलों के उस पार, न जाने किसकी आवाज़ गूँज उठी—

'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा।'

और, आज़ादी आई—शहीदों के खून पर तैरती हुई। तिरंगा लहरा उठा। दीपमालाएँ जल उठीं। 'आज़ाद हिंदुस्तान, जिंदाबाद' के नारों से देश का कोना-कोना मुखरित हो उठा। कल जिन हाथों में जंजीरें थीं, आज उन्हीं में शासन की बागडोर। कल जो बंदी था, आज वही शासक बन बैठा।

पर, झंडा बदला, शासक बदला, बात न बदली। दीप जले, अंधकार छाया रहा। गाँव निश्चेष्ट सब कुछ देखता रहा और दिल्ली के बाजार में बापू का सत्य बिक गया, अहिंसा बिक गई।

नेता और जनता !
शासक और शासित !!
अमीर और गरीब !!!

—भेद की दीवारें कुछ और ऊँची हो गईं। जंजीरें जरा और जकड़ गईं। मुस्कुराने की कोशिश में आँसू निकल आए।

पर, रूस के आँगन से पुकार उठी—'दुनिया के गरीबो ! एक हो !' बर्फीले मैदानों, हरे-भरे जंगलों और नदी-पर्वतों को लाँघती हुई आवाज़ भारत के आकाश में गूँज उठी—'दुनिया के गरीबो ! एक हो !'

और, एक बार फिर जंजीरें झनझना उठीं। क्रांति का यौवन कसमसा उठा।

*　　　*　　　*

महायुद्ध की ज्वाला, स्वतंत्रता-संग्राम की आग, वर्ग-चेतना की चिनगारियाँ—आग ! आग !! चारो ओर आग !!! शोले भड़के। लपटें फैल चलीं। चाँद-सितारों की दुनिया झुलस गई। धुएँ से आसमान भर गया। और, ज्वालामुखी के गर्भ से हिंदी का नया साहित्य अँगड़ाई ले उठा।

उसने आकाश में उड़नेवाले छायावाद के खिलाफ विद्रोह किया। वह धरती का साहित्य था।

उसने कहा—मिट्टी से दुनिया बनी, मनुष्य बना, मनुष्य के भाव और विचार पैदा हुए। भावों और विचारों के अभिव्यक्त रूप—साहित्य—को मिट्टी के प्रति वफ़ादार होना ही चाहिए।

उसने कहा—एक वर्ग मिहनत करे, दूसरा बैठा खाए, यह ठीक नहीं। आर्थिक वैषम्य अन्याय है और अन्याय को मिटाने के लिए इन्कलाब की जरूरत होती है।

ईश्वर और भाग्य में उसका विश्वास नहीं। उसने जन-शक्ति में आस्था प्रगट की।

जनता की बोली में जनता की बात—यह नए साहित्य की अपनी विशेषता है।

उसने गुलामी की जंजीर पर चोट की ; वर्ग-भेद की दीवार पर प्रहार किया। राष्ट्रीय-भावनाओं को भाषा देकर वह देश-व्यापी हो उठा ; मार्क्स के सिद्धांतों का अवलंबन कर अंतर्राष्ट्रीय। पर, वह राष्ट्रीय से अधिक अंतर्राष्ट्रीय था।

दुनिया ने उसे प्रगतिवाद कह कर पुकारा। वह हिंदी का नया साहित्य था।

उस दिन नई बात हुई। 'दिनकर' मिट्टी से फूट निकला। आसमान शरमाया ; चाँद और सितारे पीले पड़ गए।

वह धरती का दिनकर था—सिमरियाघाट के एक साधारण किसान का बेटा। उसके कंठ से गुलाम देश की आत्मा बोल उठी।

वह जब आया, कविता सो रही थी—आँखों में राग अमंद पिए, अलकों में मलयज बंद किए। उसने झकझोर दिया :—

'उठ वीरों की भाव-रंगिनी, दलितों के दिल की चिनगारी!
युग मर्दित जीवन की ज्वाला, जाग-जाग री क्रांति-कुमारी !!'

और, कविता जागी, गुलाम देश अँगड़ाई ले उठा। कैलाश से उसने आग्रह किया—

'तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
तपी आज तप का न काल!'

और, कैलाशपति से—

'नाचो रे नाचो नटवर!
नाचो अग्नि-खंड भर स्वर में, फूँक-फूँक ज्वाला अंबर में!'

जमाना फूस बटोर रहा था, कवि की पुकार पर दिशाएँ आग उगलने लगीं। तूफान बंधन तोड़ कर फूट निकला। क्रांति धधक उठी।

पर, जब दिल्ली का सिंहासन ज्वाला की भेंट होने लगा, दिनकर पीला पड़ गया। वह सरकार का नौकर था। उसकी रोटी दिल्ली से आती थी। वह रोटी के साथ गद्दारी न कर सका। शहीदों ने विस्मय से देखा, वह दुश्मनों के साथ खड़ा था।

पर, जब आजादी आ ही गई, बुद्धिमान कवि की देश-भक्ति फिर से उदबुद्ध हो उठी। अंग्रेजी शासन की लाश को ठोकर मार कर वह विजय के गीत गानेवालों में आ मिला।

आज वह दिल्ली की पार्लियामेंट का सम्मानित सदस्य है!

उसने प्रगतिवाद के राष्ट्रीय स्वरूप को नेतृत्व प्रदान किया ; वीरता के आदर्श को फिर से सँवारा। देश जब आज़ादी की लड़ाई लड़ रहा था ; दुनिया जब युद्ध की आग में जल रही थी ; उसने शृंगार और दर्शन के भी गीत गाए।

पर, सबसे अधिक कल्याण उसने हिंदी भाषा का किया। सादगी में सौंदर्य और सरलता में चुटीलापन—यह दिनकर की भाषा है। वह आग उगलती है। पर, उसमें मधुमास ला देने की ताकत भी है।

'रेणुका' दिनकर की पहली कृति है। उसमें मिट्टी के प्रति आग्रह है, देश के प्रति प्यार, राग और विराग भी। उसकी मिट्टी में सारी संभावनाओं के बीज वर्तमान हैं।

'हुंकार' में देश-प्रेम प्रधान हो उठा है, शेष सारी भावनाएँ गौण। वह युग-धर्म का हुंकार है।

'रसवंती' के अंचल पर रस की धारा बही है, 'द्वंद्वगीत' में प्यार और कर्त्तव्य के बीच द्वंद्व—चिंतन और दर्शन भी। 'सामधेनी' में कुछ आग है, कुछ फूल। 'धूप-छाँह' बालोपयोगी कविताओं का संग्रह है। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने युद्ध की जलती हुई समस्या पर विचार किया है। कहते हैं, यह हिंदी (खड़ी बोली) का तीसरा महाकाव्य है। 'रश्मिरथी' कर्ण के चरित्र पर आधारित एक सुंदर खंड-काव्य है। 'बापू' राष्ट्रपिता के निधन पर बहे आँसुओं

का छंदबद्ध रूप, और 'नीलकुसुम' हाल की लिखी प्रयोगशील कविताओं का संग्रह।

अभी और न जाने कितनी ऐसी कृतियाँ भविष्य के गर्भ में हैं।

गलबाहीं हो या हो कृपाण !
चल चितवन हो या धनुष-बाण !!.......

आशंका और अनिश्चय के अंधकार में उस दिन जब बलिपंथियों के कदम लड़खड़ाने लगे, भवानी स्वयं जलती मशाल लिए आ खड़ी हुई ! मझोला कद, गोल मुख, चौड़ा माथा, सरल भृकुटियाँ और बड़ी-बड़ी भाव-स्नात आँखें, हाथों में जंजीर—सुभद्राकुमारी चौहान ! सीधी-सरल भाषा में उसने वीरता की बातें कहीं, पौरुष को जगाया। 'खूब लड़ी मर्दानी वह जो झाँसीवाली रानी थी'—इन पंक्तियों से कौन परिचित नहीं ?

महलों के गीत बहुत गाए जा चुके। उस दिन छायावाद के भग्नावशेष पर चढ़ कर कोई बोल उठा—

वह आता।
दो टूक कलेजे को करता पछताता पथ पर आता ॥
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी - भर दाने को
भूख मिटाने को
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता।

'जाग-जाग री, क्रांति-कुमारी!'

आदमी का यह रूप?—कितना करुण! कैसा दर्दनाक! पर, उत्तरदायी कौन? क्या भाग्य? नहीं, वह, जो दूसरों का श्रम बेच कर अपनी तिजोरी भरता है—पूँजीपति, मिल-मालिक, जमींदार। पर, यह कितना बड़ा अन्याय! कवि ने न्याय चुरानेवालों को डाँटा—

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब।
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट।
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रखा, सहाया जाड़ा-घाम।

यह था महामानव निराला। उसने छायावाद को दिशा दी थी। उसकी छाया पाकर आज प्रगतिवाद भी पल्लवित हो उठा। 'कुकुरमुत्ता' और 'नए पत्ते' उग आए!

बाज पंत भी न आया। मार्क्स की दुहाई उसने भी दी। समता का राग उसने भी अलापा—

धन्य मार्क्स चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय-शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।

—युगवाणी

पर, उसकी ऐसी कविताओं में कलाकार की ईमानदारी नहीं, शोषितों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का स्वांग भर है।

'भैंसागाड़ी' का कवि भगवतीचरण वर्मा बल्कि हृदय को अधिक छूता है। शोषक वर्ग के अत्याचारों का इससे ज्यादा विशद और सजीव चित्र और क्या हो सकता है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों-से,
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको,
पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती निज धुँधलापन,
असफलता की सुबह-शाम।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना, फिर मर जाना,
यह है लोगों का एक काम।

* * *

दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिए।
चरमर चरमर - चूँ - चरर - मरर,
जा रही चली भैंसागाड़ी।

पर, इन कवियों ने मुख्यतः प्रगतिवाद के राष्ट्रीय पहलू को ही ध्वनित किया। वर्ग-संघर्ष को बल न मिला होता, यदि शिवमंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन और नरेंद्र शर्मा, रांगेय राघव, 'नीरज' और महेंद्र भटनागर न आए होते; यदि गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर, सरदार जाफरी और मुक्तिबोध कलम न उठा लिए होते।

उस दिन जब शोषण की आग में आशियाँ जल उठा, 'सुमन' के सपने झुलस कर रह गए। बसंत क्या खाक मनाए वह। बोल उठा—

जब सब बंधन कट जाएँगे,
परवशता की होली होगी।
अनुराग - अबीर बिखेर रही,
मा - बहिनों की झोली होगी।
तब समझूँगा आया बसंत।

पर, कितनी दूर है वह बसंत! पतझड़ के पंजे कसते ही जा रहे हैं। पत्र-पुष्प-विहीन वृक्षों की तरह नंगे-भूखे नर-कंकाल!— क्या सचमुच कभी इन पर बहार आएगी? अभी तो पथ के कंकड़-पत्थर भी कहते हैं—

मैं पद-लुंठित, पद-मर्दित बन,
आया हूँ जीवन के पथ पर।

परवश अपनी सीमाओं में,
मैं मूक व्यथाओं का घर हूँ।
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ !!

*   *   *

पर, मैंने कल पथ पर देखी—
पद-दलित मानवों की टोली।
थीं जिनकी आह-कराहों में,
मेरी परवशता की बोली।
उनके भी हाहाकारों पर,
देता था कोई ध्यान नहीं।
अपने सूखे जर्जर तन में,
लगते थे मेरे हमजोली।
जीवन में पहले-पहल मुझे अपने ऊपर कुछ गर्व हुआ,
मैं जड़ होकर भी इन चेतन नर-कंकालों से बढ़ कर हूँ।
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ !!

पर, जिस दिन कंकालों का अभिमान जागेगा, उन पर खड़ी पूँजीवाद की इमारत भहरा पड़ेगी। फिर तो 'मास्को दूर नहीं' होगा। वृंत-वृंत पर बसंत मुस्कुरा उठेगा।

'जीवन के गान', 'हिल्लोल' और 'प्रलय-सृजन'—ये कृतियाँ नहीं, शोले हैं, जो 'सुमन' के अंतर से प्रगट हुए हैं। हाँ, सुमन के अंतर से भी शोले प्रगट होते हैं !

पर, मुट्ठी भर हड्डियों का पुतला, दम्मे का रोगी, साँस के झकोरें पर मौत की घाटी में झूल रहा—भला कौन विश्वास करेगा, इस देह-यष्टि में ज्वालामुखी पलते हैं। पर, यह सच है कि नागार्जुन इन्कलाब का ही दूसरा नाम है।

साम्राज्यवादी शक्तियों को वह ललकार उठा—

केशर की मासूम क्यारियों से आती आवाज।
काश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज।।

पर, क्रांति की पहली शर्त्त है—जन-जागृति। देश की वर्तमान स्थिति की ओर आकृष्ट कर कवि ने जनता को उठ खड़ा होने की प्रेरणा दी है। 'भुस का पुतला' कबतक उसकी रक्षा कर सकेगा—

सरग था ऊपर,
नीचे पताल था।
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था,
दिल-दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।

'जन-भाषा के सरल-सरस रूप की ओर रुझान' नागार्जुन की अपनी विशेषता है।

केदार ने प्यार-शृंगार के भी गीत गाए। 'नींद के बादल' में ऐसे ही गीत हैं—वैयक्तिक। पर, 'युग की गंगा' सचमुच युग की गंगा है। उसमें जनवादी आशा-आकांक्षा की तरंग है, क्रांति की लहर-भँवर। पूँजीवादी मनोवृत्ति का यह तुलनात्मक चित्र देखिए—

ये कामचोर
आरामतलब
मोटे, तोंदियल, भारी-भरकम
हट्टे-कट्टे डाँगर सब ऊँघा करते हैं,
हम चौबीस घंटे हँफते हैं।

*   *   *

ये नीच प्रकृति
ये भ्रष्टबुद्धि
आजाद विचरने के दुश्मन
हट्टे-कट्टे डाँगर उठकर आगे बढ़ने से डरते हैं।
हम आजादी को मरते हैं।

पर, सर्वहारा के सपनों ने हाथ में तलवार उठा ली है। डाँगरों की और नहीं चलेगी। रूस और चीन की चिता पर उनकी लाशें फूँक दी जाएँगी। नया इंसान जागेगा। नरेंद्र शर्मा की 'रूस के मैदान', 'चीन और हिंदुस्तान' आदि कविताओं में इसी विश्वास को स्वर मिला है। उदाहरण लीजिए :—

साँस रोक सदियाँ तकती हैं, इन रूसी मैदानों को,
देखें कौन उजाड़ सकेगा, सदियों के अरमानों को।
पेट काट कर महल बना था, दुनिया के मजदूरों का,
लाल फौज जिसकी रखवाली, रूस देश मजदूरों का।

चाहे अपने लोहू से हो, चाहे झंडे के नीचे,
लाल हमें करना दुनिया को, लाल सितारे के नीचे।
आज रूस के मैदानों पर, दुनिया का वारा-न्यारा,
पर उगते सूरज को कैसे, निगल सकेगा अँधियारा।

वैषम्य की ज्वाला में झुलस रही धरती पर समता की भागीरथी उतार लानेवाले रूस के प्रति ऐसी ही आस्था कवि ने अन्यत्र भी व्यक्त की है—

लाल रूस है ढाल, साथियों ! सब मज़दूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन, साथी ! दुश्मन सब इंसानों का,
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का॥

पर, अंचल ने रूस और चीन की सीमाओं से ऊपर उठ कर 'मानव' की पूजा की। मानव ही उसका आराध्य है, पर कितना दीन-हीन, अकिंचन। उसकी स्थिति देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है—

यह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई-बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती॥

पर, मनुष्य को कीड़े से भी बदतर बना डालनेवाले शोषण का उन्मूलन ही मनुष्य की सच्ची आराधना है और क्रांति इस आराधना का मूल-मंत्र। वह गरज उठता है—

जीवन का बलिदान चढ़ाने,
खड़े मुंतजिर हम दीवाने।
महाध्वंस के अग्रदूत हम,
आज उठे विप्लव धधकाने ।।

'मधूलिका' और 'अपराजिता' के क्षितिज पर जो अरुणिमा दीख पड़ी थी, वह 'किरण-वेला' और 'करील' तक आते-आते मध्याह्न की प्रचंडता में परिणत हो गई। आज का अंचल चिंतन-प्रधान होता जा रहा है; आग पर खौलते हुए जल का वाष्प बन कर ऊपर उठ जाना स्वाभाविक ही है।

पूँजीपतियों ने ईश्वर को शिखंडी बना कर अपने आगे रखा है, मंदिर-मस्जिद की माया फैला रखी है। पर, क्रांति की आग में यह सारी माया जलकर राख हुई जाती है। 'नीरज' के शब्दों में—

हैं काँप रहीं मंदिर-मस्जिद की मीनारें,
गीता-कुरान के शब्द बदलते जाते हैं।
ढहते जाते हैं दुर्ग-द्वार, मकबरे-महल,
तख्तों पर इस्पाती बादल मँडलाते हैं।
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इंसान नया,
जिंदगी कब्र पर बैठी बीन बजाती है।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है ।।

सच्चा भगवान तो भगवान को जन्म देनेवाला है—इंसान को। पर, उसे ही जब कवि दर-दर की ठोकरें खाते देखता है, तब क्षुब्ध होकर बोल उठता है—

मिल जाता है जब कभी, लगा सम्मुख पथ पर,
भूखे भिखमंगों, नंगों का सूना बजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं,
है खोज रहा धरती पर मिट्टी का मजार॥

'तारों के गीत', 'टूटती शृंखलाएँ' और 'बदलता युग'—महेंद्र भटनागर के इन संग्रहों में जनवादी भावना व्यक्त हुई है। पर, ये सस्ते नारे नहीं। उसके हाथ में किसी पार्टी का झंडा नहीं, जाग्रत मानवता की मशाल है। तभी उसकी कविताएँ अनुभूति की सच्चाई से लबालब हैं।

बलिदान की अजेय शक्ति में उसका अखंड विश्वास कह उठता है—

गिर नहीं सकती कभी विश्वास की दीवार
निर्मित तप्त जन-जन के लहू से
वज्र-सी, फौलाद-सी दृढ़ हड्डियों से
नींव के नीचे पड़े
कातर अनेकों मूक जन-बलिदान
गिर नहीं सकती कभी अगणित प्रहारों से
नए विश्वास की दीवार!

नए कवियों में शंकर, शैलेन्द्र और शील के नाम उल्लेखनीय हैं।

रामदयाल पांडेय, हंसकुमार तिवारी, 'नारायण' और 'रुद्र'—इन कवियों की प्रगतिशील कविताएँ भी प्रायः इसी युग में लिखी गईं।

आज जब फिर क्षितिज पर युद्ध के बादल मँड़राने लगे हैं, 'अशोक' के कवि रामदयाल पांडेय ने कविता की वंशी में शांति का स्वर फूँका है।

पर, यह विराम नहीं। मंजिल अभी दूर है। 'क्रांति-कुमारी' (कविता) के चरण व्यग्रतापूर्वक उठ रहे हैं—महलों की ओर, महलों को संरक्षण देनेवाले सिंहासन की ओर। पग-ध्वनि साफ सुनाई दे रही है—

> सिंहासन खाली करो,
> कि जनता आती है।

पर, गद्दीवाले बहरे होते हैं।

'जीवन के पूरे-अधूरे चित्र'

(महाकाव्य और खंडकाव्य)

कलाकार तट पर उद्विग्न खड़ा सोच रहा था—पागल समुंदर को उसकी संपूर्णता में कैसे बाँध ले !

वैज्ञानिक आविष्कार, महायुद्ध की विभीषिका, और वर्ग-संघर्ष—आज युग के सागर में ज्वार उठा था। लहरें पछाड़ खा रही थीं।

कलाकार ने हर लहर की अलग-अलग तस्वीर उतारी। मुक्तक रचे—अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र छोटी-छोटी रचनाएँ।

पर, लहर सागर की इकाई है, सागर नहीं। ऐसे भी चित्रों की जरूरत महसूस की गई, जिनकी रेखाएँ संपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ मनुष्य को अपनी बाँहों में समेट ले, जिनमें नए मनुष्य और नए युग की विशालता एवं विविधता एक साथ मुखर हो उठे। और, महाकाव्य आए, खंडकाव्य लिखे गए—जीवन के पूरे-अधूरे चित्र।

नए युग ने अवतारों के बौद्धिक मूल्यांकन को प्रेरणा दी।

आजाद हिंदुस्तान ने राष्ट्र के नव-निर्माण की योजना माँगी।

युद्ध की आग में जलता हुआ विश्व पुकार उठा।

और, हर पुकार पर महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे जाने लगे। फिर तो यह एक फैशन ही हो गया। महाकवियों की 'तालिका' में स्थान पा लेने के लिए भी प्रबंध के क्षेत्र में हाथ आजमाए जाने लगे।

पर, सागर क्या हाथ आ सका ?

धक्के देता हुआ उपन्यास सामने आ खड़ा हुआ। बोला—'चल हट। तेरे दिन लद चुके। देख, सागर की छाती पर मैं झंडा उड़ाता हूँ।' कहानी ने 'हाँ' में 'हाँ' मिलायी—'और क्या।' प्रबंध के पाँव लड़खड़ा गए ; चलते रहने की कोशिश फिर भी जारी रही। अच्छे-बुरे दर्जनों खंडकाव्य और महाकाव्य लिख डाले गए।

डा० प्रतिपाल सिंह ने बींसवीं शताब्दी के प्रबंध-काव्यों की एक तालिका पेश की है। उसमें इतने सम्मिलित हैं :—

रचना-क्रम	रचयिता	रचना-काल
१. प्रिय-प्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)	१९१४ ई०
२. रामचरित चिंतामणि	रामचरित उपाध्याय	१९२० ई०
३. बुद्धचरित (संस्कृत)	रामचंद्र शुक्ल (ब्रजभाषा में अनु०)	१९२४ ई०
४. साकेत	मैथिलीशरण गुप्त	१९२९ ई०
५. तक्षशिला	उदयशंकर भट्ट	१९३१ ई०
६. नल-नरेश	पुरोहित प्रतापनारायण	१९३३ ई०

७.	प्रताप-चरित्र (ब्रज०)	केसरी सिंह	१६३४ ई०
८.	कामायनी	जयशंकर प्रसाद	१६३५ ई०
६.	नूरजहाँ	गुरुभक्त सिंह	,, ,,
१०.	सिद्धार्थ	अनूप शर्मा	१६३७ ई०
११.	रामचंद्रोदय	रामनाथ ज्योतिषी	,, ,,
१२.	पुरुषोत्तम	तुलसीराम शर्मा	१६३६ ई०
१३.	तुलसीदास	निराला	,, ,,
१४.	मानसी	उदयशंकर भट्ट	,, ,,
१५.	वैदेही-वनवास	अयोध्या सिंह उपाध्याय	,, ,,
१६.	हल्दी घाटी	श्यामनारायण पांडेय	,, ,,
१७.	दैत्यवंश महाकाव्य (ब्रज०)	हरदयालु सिंह	१६४० ई०
१८.	आर्यावर्त	मोहनलाल महतो 'वियोगी'	१६४३ ई०
१६.	कृष्णायन (अवधी)	द्वारिकाप्रसाद मिश्र	,, ,,
२०.	कुरुक्षेत्र	रामधारी सिंह 'दिनकर'	,, ,,
२१.	जौहर	रामकुमार बर्मा	,, ,,
२२.	जौहर	सुधीन्द्र	,, ,,
२३.	जौहर	श्यामनारायण पांडेय	१६४५ ई०
२४.	साकेत-संत	बलदेवप्रसाद मिश्र (डा०)	१६४६ ई०
२५.	महामानव	ठाकुरप्रसाद सिंह	,, ,,
२६.	विक्रमादित्य	गुरुभक्त सिंह	१६४७ ई०

२७. शर्वाणी	अनूप शर्मा	१९४८ ई.
२८. जन-नायक	रघुवीरशरण 'मित्र'	१९४९ ई.
२९. उर्मिला	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	अप्रकाशित

'रश्मिरथी', 'कैकेई', 'नंददास', 'अशोक', 'तप्तगृह'—ऐसे और भी कई नाम हैं, जो छूट गए हैं। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन'-जैसे उत्कृष्ट खंड-काव्यों के नाम भी इस तालिका में नहीं हैं। सन् १९३० के पहले 'पथिक' की लोकप्रियता सारे हिंदी-जगत में व्याप्त थी।

पर, कितने ऐसे हैं इनमें, जो प्रबंध-काव्य की कसौटी पर खरे उतर सकेंगे? आलोचकों ने मुश्किल से चार को खड़ी बोली का महाकाव्य माना है—'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र'। *

'प्रिय प्रवास' में कृष्ण-चरित् का बौद्धिक और सामाजिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है; राधा जन-कल्याण की देवी बन कर प्रगट हुई हैं। 'साकेत' के राम पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने की कामना करते हैं; कैकेई पश्चाताप की आग में जल कर कंचन हो उठती हैं। 'कामायनी' में प्रसाद ने बुद्धिवाद की घाटियों में भटकते हुए विश्व को हृदयवाद का संदेश दिया है। 'कुरुक्षेत्र' युद्ध और शांति की जलती हुई समस्या पर दिनकर के विचारों का नाम है।

* इनका सविस्तार उल्लेख यथास्थान पहले ही किया जा चुका है।

इन चारों के अतिरिक्त 'आर्यावर्त', 'हल्दीघाटी' और 'नूरजहाँ' ने भी काफी लोकप्रियता पाई। पर, लोकप्रियता ही तो महाकाव्य की कसौटी नहीं।

प्रबंध-काव्य इस कोलाहल में शायद लिखे ही नहीं जा सकते। लिखे ही जाएँ, तो इनसे अच्छे न होंगे। शायद कल जब शांति का शतदल खिलेगा, कवि की प्रतिभा पराग बन कर उड़ेगी और संपूर्ण वायुमंडल को पराभूत कर लेगी। रामायण-जैसे महाकाव्य लिखे जा सकेंगे। पर कौन जाने ?

आश्चर्य नहीं कि कवि गड़े मुर्दे ही उखाड़ता रह जाय। प्रबंध-काव्यों ने सिद्धार्थ और यशोधरा, राम और कृष्ण से ज्यादा हमें अब तक दिया क्या है ? होरी की आँखें शून्य में भटक रही हैं। धनियाँ के आँसू कपोलों पर सूख कर रह गए हैं। गोबर और झूना के सपने मिल के रॉलरों में पिस रहे हैं। पर, :कवि आस-पास बिलखते हुए जीवन से ही उदासीन हैं, सिर्फ दूर की देखता है। फिर नए युग के महाकाव्य लिखे जाएँ, तो कैसे ?

★

'टूटती कड़ियाँ'

बीसवीं शताब्दी की रेखाएं

विज्ञान का लोक—

भयंकर आविष्कार। वायुयान और बम, टैंक और मशीनगन रूढ़ियों और अंधविश्वासों के स्तूप पर बुद्धिवाद का वज्र-प्रहार !

विश्व का रंगमंच—

गैस का धुआँ। खून के फव्वारे। आदमियत की होली।

प्रथम महायुद्ध !

द्वितीय महायुद्ध !!

तृतीय महायुद्ध की तैयारी !!! जेब में बम, जीभ पर शांति के नारे। क्षितिज पर युद्ध के बादल।

भारत का मानचित्र—

(१)

तिरंगे की छाया में नंगे-भूखे कंकालों की भीड़।

हिंदुस्तान—हमारा है !

इस पर शासन—हम करेंगे!!.......

बैनट और बंदूक। जेल और सेल। ब्रिटिश-बूटों के नीचे देश का अभिमान कराह उठा।

(२)

तिरंगे की छाया में सेठ और मिल-मालिक। खादी की टोपियाँ। चकमक कार। —'जन-गन-मन अधिनायक जय हे!'......

सांप्रदायिक दंगे। देश के टुकड़े। टूटी झोपड़ियों में आज़ाद नर-कंकाल—नंगे और भूखे। —'कमानेवाला—खायगा! ...इसके चलते—जो कुछ हो!!'......

* * *

मनु का बेटा आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण की शृंखला में दम तोड़ रहा था। चारों ओर निराशा का घना अंधकार छाया था। दिशाएँ एक दूसरे की ओर देख रही थीं—मौन, अवाक्; मानों पूछ रही हों—अब क्या होगा?

तभी पर्दे के उस पार से नाटक बोला—'मैं इसकी रक्षा करूँगा। अभी आया।' एकांकी की आँखें उत्साह से चमक उठीं।

'मैं शृंखला की इन कड़ियों को टूक-टूक कर दूँगा'—उपन्यास बरसते हथौड़े-सा गरज उठा।

'और, यह रही मैं—छोटी-सी छेनी। तुम्हारी मदद करूँगी' कहानी चमकती हुई आई और उपन्यास की बगल में सट कर खड़ी हो गई। उसके पास ही रेखाचित्र और संस्मरण जा खड़े हुए।

पर, पथ पर अंधकार छाया था। समालोचना हाथों में मशाल लिए सबके आगे आकर बोल उठी—'सिर्फ जोश से काम नहीं चलता। होश भी चाहिए। आओ, मैं राह बताऊँ।' निबंध उसके पार्श्व में जा खड़ा हुआ।

और, दिशाएँ बोल उठीं—मनु-पुत्र की जय!

'पर्दे के उस पार और इस पार'

(नाटक)

शोषण के अग्नि-व्यूह में जिस दिन मनु की संतान चीत्कार कर उठी, नाटक की गंगा संस्कृत के शृंग से कूद कर, हिंदी के अंचल पर गई—आकुल-व्याकुल, अस्त-व्यस्त। बँगला की हरीतिमा, शेक्सपीयर और मॉलियर के उपवन—इन पड़ावों को पार करती हुई, वह इब्सन और शॉ की उन प्रस्तर-घाटियों में आ पहुँची, जो मनुष्य की करुण पुकारों से हिल रही थीं, जिनमें जीवन की असंख्य-असंख्य समस्याएँ चक्कर काट रही थीं।

हिंदी-नाटक की धारा में इतने सारे तत्त्व घुल-मिल गए—

१. संस्कृत नाटकों के अनुवाद।

२. शेक्सपीयर और मॉलियर के नाटकों की रंगीनी।

३. बँगला नाटक, विशेषतः द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का प्रभाव। इनके माध्यम से अँग्रेजी नाटकों का प्रभाव भी।

४. शॉ और इब्सन के समस्या-नाटकों का प्रभाव।
५. पारसी नाटकों की छाया।

पर, गंगा फूटी थी संस्कृत के शृंग से ही। गंगोत्री में हिंदी-नाटक की धारा पर भास और शूद्रक, कालिदास, भवभूति और विशाखदत्त की आत्माएँ तैरती दिखाई दीं। इनके अनुवादों ने ही हिंदी-नाटक को खड़ा होने के लिए धरातल दिया। फिर अँग्रेजी और बँगला से अनुवाद किए जाने लगे। हिंदी-नाटक का प्रारंभिक युग एक प्रकार से अनुवाद का युग ही था।

पर, शीघ्र ही मौलिक रचनाओं का भी युग आया। 'नहुष' लिखकर भारतेंदु के पिता कविवर श्री गिरिधरदास जी ने हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना का सूत्रपात्र कर दिया। फिर राजा लक्ष्मण सिंह की 'शकुंतला' आई।

पर, अबतक हिंदी-नाटक का दामन अध्यात्म और पुराण से ही उलझा था। ब्रजभाषा की बेड़ियाँ पैरों में पड़ी थीं। और, इधर मनु की संतान आकुल हो-होकर पुकार रही थी। तभी तम के पर्दे को चीर कर चाँद उग आया—भारतेंदु। एक ही झटके में अध्यात्म और पुराण के बंधन ढीले पड़ गए। शोषण के दुर्ग को ध्वस्त कर डालने के लिए नाटक ने हथियार उठा लिए।

यों आए भारतेंदु भी अनुवाद लेकर ही—'विद्यासुंदर' फिर 'मुद्रा-राक्षस'। आध्यात्मिक-पौराणिक नाटक भी लिखे—'चंद्रावली' और

'सतीप्रताप'। पर, उनका यथार्थ रूप तो 'वैदिकी हिंसा', 'सत्य-हरिश्चंद्र' और 'प्रेमजोगिनी', 'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी'—ऐसे नाटकों में ही मिलता है।

पहला नाटक चौर कवि की संस्कृत-रचना की छाया लेकर रचित बँगला के 'विद्यासुंदर' का अनुवाद है; 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त के संस्कृत-नाटक का अनुवाद। 'चंद्रावली' राधा और कृष्ण की प्रेम-कहानी है; 'सतीप्रताप' सावित्री-सत्यवान के पौराणिक आख्यान पर आधारित एक अपूर्ण गीतिरूपक। 'वैदिकी हिंसा' नाट्य-कला की दृष्टि से कोई बहुत ज्यादा प्रौढ़ रचना नहीं। पर, उसमें समाज-सुधार की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। चंडकौशिक के आधार पर ही सही, 'सत्य हरिश्चंद्र' लिखकर भारतेंदु ने जनता को सत्य का आदर्श दिया—अमोघ-अस्त्र, जिसके आगे असत्य घुटनें टेक दे। पर, 'प्रेमजोगिनी' में सत्य का नग्न रूप है—कठोर यथार्थ, जो उँगलियाँ घुसेड़ कर बरबस आँखें खोल दे। उसमें भारतेंदु ने, शोषक अमीरों और उनकी सभ्यता की धज्जियाँ उड़ा कर रख दी हैं—

अमीर सब झूठे औ निदंक, करैं घात विसवासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू, बोलैं बात अकासी॥

धर्म इन अमीरों का सबसे बड़ा अस्त्र है और पंडे इनकी व्यवस्था के आधार-स्तंभ। भारतेंदु इन आधार-स्तंभों पर ही चोट कर बैठे। 'प्रेमजोगिनी' में बनितादास के मुख से उन्होंने कहलवाया—

'भाई साहब ! अपने तो वैष्णव आदमी हैं, वैष्णविन से काम रक्खित हैं।...भाई, मंदिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी। से महराज, कब्बौं गाढ़ा तो पहिरबै न करियैं। मलमले, नागपुरी, ढाकै पहिरियैं। अतरै फुलेल, केसर परसादी बीड़ा चाभौं। सबसे सेवकी ल्यौं। ऊपर से "ऊ" बात का सुख अलगै है।'

कथा का सूत्र इसमें बिखरा-बिखरा-सा है। पर, यथार्थ का ऐसा जोरदार चित्रण ! शोषण के खिलाफ विद्रोह का इतना तीखा स्वर!! काश, यह नाटक किसी तरह पूरा हो सका होता।

'भारत-दुर्दशा' देश की परिस्थितियों का अलबम है, पराधीनता से मुक्ति पाने की आकुल अभिलाषा भी। पर, हमें रोग, आलस्य, अज्ञान—इन सबने घेर रखा है। हम वस्तुतः अपनी स्वयं बेड़ियाँ बने बैठे हैं।

'नीलदेवी' में भी भारतेंदु ने गुलामी की तौक उतार फेंकने की प्रेरणा दी; साथ ही, नारी-चरित्र का एक अनुकरणीय आदर्श भी प्रस्तुत किया।

इस तरह उनका हर नाटक दासता की शृंखला पर एक चोट है—शोषण के अग्नि-व्यूह में तड़पते हर मनुष्य को मुक्ति दिलाने का एक प्रयास है।

उनके समसामायिक भी वैसे ही थे—प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास और राधाचरण गोस्वामी।

'संगीत शाकुंतल', 'त्रिया तेल हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार';
'भारत-दुर्दशा रूपक' और 'कलिकौतुक रूप'—हास्य और व्यंग्य से पूर्ण तथा सुधार-भाव से प्रेरित ऐसे नाटकों की रचना प्रतापनारायण मिश्र ने की थी। 'भारत-दुर्दशा रूपक' एक प्रकार से भारतेंदु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक का ही अनुकरण है। पर, स्थान-स्थान पर लेखक ने बड़े मौलिक व्यंग्य किए हैं। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्रीय भलेमानुस के इस प्रस्ताव में कि 'विदेश से कल मँगा कर स्वदेशी कपड़ा पहनेंगे', कितना गहरा व्यंग्य है।

'कलिकौतुकरूप' में 'बड़े-बड़े लोगों की बड़ी-बड़ी लीला, विशेषतः नगर-निवासियों के गुप्त चरित्र दिखलाए गए हैं।' बड़ी निर्भीकता के साथ इसमें प्रतापनारायण मिश्र ने समाज में फैले हुए भ्रष्टाचारों का पर्दाफाश किया है। संवाद की स्वाभाविकता और पात्रानुकूलता इस नाटक की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी'—श्रीनिवासदास के इन नाटकों में अंतिम नाटक ने सबसे अधिक प्रसिद्धि पायी। इसमें सूरत की राजकुमारी प्रेममोहनी और रणधीर की प्रेम-कथा है। सूरत के महाराज सिर्फ इसीलिए रणधीर को अपनी लड़की नहीं देना चाहते हैं कि वह उच्च कुल का राजपूत नहीं। परिणाम होता है, युद्ध। और, रणधीर लड़ता हुआ मारा जाता है। पर, यह कथा तो बहाना मात्र है। प्रेम-कहानी के बहाने लेखक ने राजा और प्रजा, ऊँच और नीच के संघर्ष को वाणी दी है;

युग-चेतना को मुखर किया है। रणधीर कह उठता है—जैसे आपके ऊँचे-ऊँचे महलों पर सूर्य की धूप पड़ती है, वैसे ही हमारी गरीब झोपड़ी में भी सूर्य भगवान प्रकाश करते हैं।" ..

संवाद सुंदर बन पड़े हैं-- जैसे पात्र, वैसी भाषा। यह भी लेखक की यथार्थवादी प्रवृत्ति का ही परिचायक है।

इस नाटक की प्रशंसा में 'कवि-वचन-सुधा' ने लिखा था--'एक लोटा ही पास हो, तो भी उसे बेच कर इस नाटक को खरीदो।'

और, उस दिन नाटक के क्षेत्र में राधाचरण गोस्वामी क्या आए, शोषण के स्तूप पर वज्र आ गिरा। पूँजीवाद के पाये हिल उठे।

'तन-मन-धन गुसाईं जी के अर्पण' नाटक में गोस्वामीजी ने पैसेवालों के पापाचार का भंडा फोड़कर नई पीढ़ी को उनके खिलाफ विद्रोह के लिए ललकारा है। धर्माडंबर पर कठोर प्रहार किए हैं। सेठ रूपचंद पाप की कमाई को पचाने के लिए जब गुसाइंजी से आशीर्वाद की याचना करता है, तब गुसाईंजी उसकी बहू के 'समर्पण' की माँग करते हैं। और, सेठ तैयार हो जाता है; अपनी बहू को समर्पित भी कर देता है। पर, सेठ का पढ़ा-लिखा नौजवान बेटा गोकुल बीच में आकर बंटाढार कर देता है और गुसाईंजी को स्वर्ग की जगह हवालात का आनंद भोगना पड़ता है। गुरु के आशीर्वाद से वंचित, बेचारा सेठ अपने कुपुत्र के कारनामे पर दाँत पीसकर रह जाता है।

लेकिन, साहित्य में शायद अबतक वर्ग-संघर्ष को वाणी न मिल सकी थी। गोस्वामीजी के 'बड़े मुँह मुँहासे' में पहली बार शोषितों का आहत अभिमान प्रतिशोध की भावना से व्याकुल होकर फुँफकार उठा। पैसेवालों ने जाति और वर्ण के नाम पर जनता के टुकड़े-टुकड़े कर दिए, ताकि वह कमजोर बनी रहे और विद्रोह न कर बैठे। 'बड़े मुँह मुँहासे' में मुसलमान और हिंदू किसान संगठित होकर शोषक जमींदार के खिलाफ जिहाद बोल देते हैं और उसे मुँहकी खानी पड़ती है।

यही एक रास्ता है। जाति और धर्म के भेद को भूलकर संगठित शक्ति से आक्रमण किए बिना शोषण की शृंखला टूटेगी नहीं और मनु की संतान तड़प-तड़प कर रह जाएगी।

राधाकृष्णदास की 'दुःखिनी बाला, 'पद्मावती', 'धर्मालाप' और 'महाराणा प्रताप'; किशोरीलाल गोस्वामी की 'मयंक-मंजरी' और राव कृष्णदेव सिंह की 'माधुरी रूपक'—इन रचनाओं से भी हिंदी-नाट्य-साहित्य की गौरव-वृद्धि हुई।

पर, भारतेंदु के अन्य समकालीन नाटककार साधारण ढंग के चलते हुए नाटक ही लिखकर रह गए—अंबिकादत्त व्यास, तोताराम, बदरीनारायण चौधरी और ज्वालाप्रसाद मिश्र। इनकी रचनाएँ नाटक-रचना के प्राचीन नियमों से मुक्त हैं। समाज-सुधार की प्रवृत्ति भी उनमें है। पर, पारसी नाटकों के प्रभाव के कारण एक प्रकार का हलकापन आ गया है।

भारतेंदु के उदय के साथ हिंदी-नाट्य-साहित्य में ज्वार आया था; उनके अस्त होने के साथ ही वह शांत भी हो गया। फिर चारों ओर खामोशी, चारो ओर अँधेरा। पूर्ववत् छोटी-छोटी लहरियों की हल्की-हल्की मर्मर-ध्वनियाँ। और, बस। काफी अरसे तक मात्र अनुवाद होते रहे—संस्कृत से, अँग्रेजी से, बँगला से।

भवभूति के 'उत्तर रामचरित', 'महावीर-चरित' और 'मालती-माधव'; कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र'; शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और हर्षदेव के 'नागानंद'—ऐसे उच्च कोटि के नाटकों का संस्कृत से हिंदी में अनुवाद कर लाला संतराम ने नई प्रतिभाओं को प्रेरणा दी। देवदत्त तिवारी, रामेश्वर भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, ज्वालाप्रसाद मिश्र इत्यादि ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

फिर सुदूर पश्चिम से प्रेरणाएँ आने लगीं। अँग्रेजी-नाट्य-साहित्य का एवरेस्ट—शेक्सपीयर—पथिकों को पुकार उठा। भारतेंदु पहले भी उस ओर आकृष्ट हो चुके थे। *'Merchant of Venice'* का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु', जो कभी पूरा न हो सका, इस बात का प्रमाण है। आगे चलकर श्रीमती आर्या ने उसका बड़ा ही सुंदर अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया। जयपुर-निवासी गोपीनाथ के हाथों शेक्सपीयर का *'As you like it'* 'मन-मानव' बनकर प्रगट हुआ और *'Romeo and Juliet'* 'प्रेम-लीला' के रूप में। मथुराप्रसाद उपाध्याय ने *'Macbeth'* के हिंदी

अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' में कथा को भारतीय रूप देने की सफल चेष्टा की।

उधर पारसी नाटक-कंपनियाँ डगर-डगर डोलती फिर रही थीं। कुरुचि फैल रही थी। उनका विरोध अनिवार्य हो उठा। इसके लिए अच्छे नाटकों की जरूरत थी, जो तत्काल हिंदी में संभव न था। अतः, बाहर से टुकड़ियाँ मँगाई जाने लगीं—बँगला नाटकों के अनुवाद। रामकृष्ण वर्मा, मधुसूदन दत्त की 'कृष्णाकुमारी' को, राजकिशोर दे की 'पद्मावती' को और द्वारिकानाथ गाँगुली की 'वीर नारी' को हिंदी में ले आए। 'सतीनाटक', 'अश्रुमती' नाटक और 'दीप-निर्वाण'—ऐसे न जाने कितने अनुवाद कर डाले गए। हिंदी में द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों की धूम मच गई—'प्रताप सिंह', 'मेवाड़-पतन', 'दुर्गादास', 'शाहजहाँ' और 'चंद्रगुप्त'।

पर, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि भारतेंदु के अस्त होते ही हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना हठात् एकदम बंद हो गई। चाँद डूब गया। पर, उसके बाद ही प्राची में पौ फटने लगी। माधव शुक्ल ने 'महाभारत' लिखा, बद्रीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती' और माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध'। ये रचनाएँ बोल उठीं—सुबह आनेवाली है।

और, सुबह आई। जयशंकर प्रसाद का उदय हुआ। बौद्ध-युग के रजत-शिखर से फूटकर उनकी रश्मियाँ इस युग के धूल-

भरे आँगन में मुस्कुरा उठीं। उन्होंने उस युग के चित्र उतारे। पर, इस युग के रंगों से। अतीत के अलबम, वर्तमान के समाधान—ये हैं—प्रसाद के नाटक! उनमें दर्शन है, कविता भी—वरन् इतना आकर्षण कैसे होता? क्या सचमुच ही रवींद्र और द्विजेंद्रलाल राय को उन्होंने आत्मसात कर लिया था? किया ही होगा।

कवि और दार्शनिक तो वे थे ही, पुरातत्व के पंडित भी थे। अध्ययन की पैनी दृष्टि से उन्होंने बौद्धकालीन भारत को देखा था और उस पर अधिकार-सा स्थापित कर लिया था। तभी उनकी लेखनी के एक संकेत पर 'चाणक्य', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'अजात शत्रु' इतिहास के अस्तित्व से उभर-उभर कर कागज के पृष्ठों पर बोल उठे। 'महाबलाधिकृत', 'परमभट्टारक',' दंडनायक', 'प्रतिहार' और 'स्कंधावार'—ऐसे शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने तत्कालीन सभ्यता के मुख में जीभ धर दी। वातावरण तक मुखर हो उठा।

और, यहाँ वर्तमान की शिला पर अतीत के संपूर्ण आदर्श, सारे सपने चूर हो रहे थे—शीशे के प्याले की तरह। मनुष्य जंजीरों में जकड़ा कराह रहा था। प्रसाद ने मुक्ति की युक्ति दी—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।'

धार्मिक सांकौचित्य को उन्होंने फटकारा—'आक्रमणकारी बौद्धों और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

नारी के हाथों संस्कृति का शिलान्यास हुआ था। पर, आज जब वही उपेक्षित हो गई, प्रसाद का मन खिन्न हो उठा। उनकी करुणा 'कोमा' और 'देवसेना' में साकार हो उठी ; विद्रोह ध्रुवस्वामिनी में।

श्रद्धा की उपेक्षा कर मनु भी कायम न रह सके ; मनु के बेटे की क्या बिसात ?

नाटक की घाटियों में कवि प्रसाद के गीतों की शीतल धाराएँ प्रवाहित होती हैं, जो बटोहियों के मन को खींच लेती हैं—सींच देती हैं। पर, गीत कहीं-कहीं जमकर नारी-मूर्त्तियों में परिणत हो गए हैं—'अलका', 'कल्याणी', और 'देवसेना' ! इन्हें भुला देना कितना कठिन है !!

अतीत और वर्तमान, पूरब और पश्चिम—सभी तो प्रसाद के नाटकों में एक साथ मुखर हो उठे हैं। पर, उनकी भाषा जरा क्लिष्ट है। नौकर तक तत्सम में ही बोलते हैं। पर, कहीं ऐसा तो नहीं, कि जिस प्राचीन युग का चित्रण वे कर रहे थे, उसके लिए यह सर्वथा अनिवार्य हो ? हो भी सकता है, कौन जाने ?

जो भी हो, 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जन्मेजय का नागयज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'एक घूँट' और 'ध्रुवस्वामिनी' —ये रचनाएँ न होतीं, तो हिंदी के नाट्य-साहित्य के पास रहता ही क्या ?

इतिहास के अँधेरे खंडहरों में, एक और था, जो इसी तरह डोलता फिर रहा था—पागल-सा, मस्त, लापरवाह ! मुगल बादशाहों की समाधि पर क्षण भर को वह रुका, फिर दीप जला कर बैठ गया। समाधि जगमगा उठी। खंडहर के ध्वस्त प्राचीरों को लाँघता हुआ, प्रकाश वर्तमान के इस छोर से उस छोर तक फैल गया।

'हिंदू' और 'मुसलमान' कह कर मनुष्य एक दूसरे का खून कर रहे थे। पर, उस साधक ने डाँटा—'धर्म मनुष्य के हृदय के प्रकाश का नाम है। जो धर्म का नाम लेकर अस्त्र चलाते हैं, वे दुनिया को धोखा देते हैं, धर्म का अपमान करते हैं।'

प्रांतीयता, जातीयता और स्वार्थांधता के शिकंजे में देश तड़प रहा था, उसकी वाणी संतरण कर उठी—'देश जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊँचा है। उसकी मान-रक्षा के लिए हमें समस्त का बलिदान करना चाहिए।'

मुगल-युग में बैठ कर आज के प्रश्नों पर विचार करनेवाले मानवता के उस प्रेमी को संसार ने हरिकृष्ण 'प्रेमी' कह कर पुकारा।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास के बौद्ध-युग से अपने नाटकों की सामग्री ली थी, प्रेमी ने मुगल-काल से। दोनों ने अतीत के आधार पर अपने-अपने ढंग से वर्तमान की समस्याओं के समाधान दिए। दोनों कवि थे, दोनों नाटककार। पर, पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार करने के कारण प्रेमी के नाटक रंगमंच के अधिक उपयुक्त बन पड़े।

'रक्षा-बंधन' प्रेमी के नाटकों में सबसे अच्छा है। पर, 'स्वप्न-भंग', 'प्रतिशोध', 'शिवा-साधना', 'आहुति', 'छाया', 'बंधन', 'विष-पान', 'उद्धार' और 'शपथ'—ये भी तो कम अच्छे नहीं।

'मिलिंद' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक भी ऐतिहासिक ही है। पर, इसकी मात्र कुछ मोटी रेखाएँ ही इतिहास की हैं। रंग कल्पना ने भरा है, और जरूरत से ज्यादा। कहीं-कहीं रेखाएँ ही पुत गई हैं। कुछ ऐसी बातें आ गई हैं, जिनका देश-काल से कोई मेल नहीं। फिर भी, यह नाटक लोक-प्रिय हो सका।

भारतीय इतिहास के दामन को मेवाड़ ने खून से रँगा था, आदर्श के मोतियों से भरा था। उस पर से ही एक मोती उठा कर सुप्रसिद्ध नाटककार श्री गोविंदवल्लभ पंत ने 'राजमुकुट' की रचना कर डाली—पन्ना धाई की वीरता और वफादारी का रोमांचकारी चित्र। यह नाटक काफी मनोरंजक है, रंगमंच के उपयुक्त भी। 'अंगूर की बेटी' में पंतजी ने शराब की बुराइयों पर प्रकाश डाला है। 'वरमाला' की सबसे बड़ी विशेषता और सबसे बड़ी अस्वाभाविकता है—उसका मूक अभिनय। पर, इस कलात्मक सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह नाटक बड़ी निपुणता से लिखा गया है। बद्रीनाथ भट्ट के 'तुलसीदास', 'दुर्गावती' आदि नाटक भी उल्लेखनीय हैं।

इब्सन के समस्या-नाटकों से प्रभावित लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बुद्धिवाद और रोमांस के संगम पर अपने नाटकों की नींव डाली।

'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर' और 'मुक्ति के रहस्य'—इनमें प्रेम की उच्छृंखलता व्यक्त हुई है, जो कोई भी बंधन नहीं मानती। पर, 'सिंदूर की होली' में मन का बंधन ही विवाह का बंधन बन गया है, जो टूट कर भी नहीं टूटता। 'अशोक' एक ऐतिहासिक नाटक है। पर, इसमें सबसे ज्यादा क्षति अशोक को ही सहनी पड़ी है।

लक्ष्मीनरायण मिश्र ने जिस यूरोपीय 'यथातथ्यवाद' को अपनी कृतियों में प्रश्रय दिया, वह 'उग्र' में उग्र हो उठा। 'चार बेचारे' में अध्यापक, संपादक, सुधारक और प्रचारक की खिल्लियाँ उड़ाई गईं। 'गंभीर-चुंबन', 'उजबक' और 'डिक्टेटर' भी आपकी ही मजेदार कृतियाँ हैं।

जी० पी० श्रीवास्तव शुरू में मॉलियर के फ्रांसीसी प्रहसनों के अनुवाद लेकर आए, फिर अपनी रचनाएँ पेश कीं। 'उलट-फेर', 'गड़बड़झाला', 'नोंक-झोंक', 'मरदानी औरत', 'दुमदार आदमी' 'मियाँ की जूती, मियाँ का सर'—उनके प्रायः सभी प्रहसन समाज की किसी-न-किसी दुर्बलता पर प्रहार करते हैं।

हास्य-व्यंग्य की छुरी में बड़ी तेज धार होती है। उसके प्रयोग से कठोर-से-कठोर बंधन भी बात-की-बात में छिन्न-भिन्न कर दिए जा सकते हैं। पर, श्रीवास्तव के हास्य-व्यंग्य में शायद वैसी तेज धार नहीं थी। वह कम परिष्कृत अभिरुचि के लोगों तक ही सीमित रह गया।

रंगमंच के उपयुक्त नाटक लिखनेवालों में सुदर्शन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'भाग्य-चक्र' में उन्होंने आधुनिक सभ्यता के खोखलेपन पर गहरा आघात किया है। 'सिकंदर' भारतीय वीरता की शानदार कहानी है। इसके चरित्र और संवाद, दोनों एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर हैं। 'अंजना' की कथा पौराणिक है; पर, बातें आधुनिक। अभिनेयता की दृष्टि से यह भी काफी सफल रहा है। पंडित सुदर्शन की भाँति नाटक के संवाद लिखनेवाले कलाकर हिंदी-साहित्य में उँगलियों पर गिने जाने योग्य हैं।

उदयशंकर कवि हैं। पर, एक दिन तक्षशिला के ध्वंसावशेष पर मँडलानेवाली उनकी कवि-कल्पना नाटक की साधना-भूमि में आ पहुँची। आहट पाते ही काल की चादर फेंक-फेंक कर पौराणिक युग के चरित्र जाग उठे, घटनाएँ बोल उठीं। 'दाहर', 'विक्रमादित्य', 'अंबा', 'विश्वामित्र' और 'सागर-विजय'—इन रचनाओं ने हिंदी के नाट्य-साहित्य को काफी समृद्ध किया है।

सचमुच 'ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान प्रसाद और प्रेमी का है, पौराणिक नाटक-रचना में वही स्थान भट्टजी का है।'

और, एक था, जो कारागार की सूनी कोठरी में ही साधना का दीप जलाए बैठा था—सेठ गोविंददास। उनके अधिकांश नाटक वहीं लिखे जा सके—'कर्तव्य', 'प्रकाश', 'हर्ष' और 'स्पर्धा'। इनमें कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ समस्यात्मक—जो वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश डालते हैं। प्रयोग में उनकी खास दिलचस्पी दिखाई देती है।

'अंबपाली' ने बेनीपुरी को काफी ख्याति दी। वृंदावनलाल वर्मा, 'वियोगी', चंद्रगुप्त विद्यालंकार और सीताराम चतुर्वेदी—ये भी उल्लेखनीय हैं।

पंत और उदयशंकर भट्ट के गीति-नाट्यों का अपना अलग स्थान है। सिद्धनाथ कुमार ने भी रेडियो के लिए सुंदरतम काव्य-नाटक लिखे हैं। गिरजाकुमार माथुर भी नहीं भुलाये जा सकते।

संस्कृत के शृंग से उतर कर नाटक हिंदी के अंचल पर आया था। इस युग तक चलकर आते-आते उसका आकार क्षीण हो गया—अतिशय सूक्ष्म। वह छाया में परिणत होकर सिनेमा के पर्दे पर डोलने लगा, रेडियो के कंठ से फूटकर हवा पर तैरने लगा। हवा के पंख उसका भार सँभाल सकें, इसलिए मात्र एक अंक में सिमट-सिकुड़ गया। लघुता में कसकर सुंदरता और भी निखर उठी। इस श्रेय के भागी हैं—डा० रामकुमार वर्मा, सुदर्शन, 'अश्क', जगदीशचंद्र माथुर, उदयशंकर भट्ट और भगवतीचरण वर्मा। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर और चिरंजीत का सहयोग भी सराहनीय कहा जा सकता है।

पर, आज जब शोषण के अंधकूप में मानवता मुक्ति के लिए छटपटा रही है, नाटक आकार में इतना लघु क्यों होता जा रहा है ?

सीता को मुक्ति दिलाने के लिए हनुमान को भी तो अपना आकार छोटा करना पड़ा था।

लघुता में सिमट कर शक्ति केंद्रीभूत हो जाती है।

'एक था राजा……'

(उपन्यास)

आदमी जंजीरों में बँधा था--मौन, उदास। कथा पास सरक आई। बोली—'यों मायूस नहीं होते' और जी बहलाने के लिए मनोरंजन की सामग्रीयाँ ढेर कर दी—'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'प्रेम-सागर' और 'नासिकेतोपाख्यान'।

पर, इन प्रारंभिक कृतियों में किस्सा है, कला नहीं। खिलौने ही तो ठहरे।

कथा-साहित्य को जन्म दिया, श्रीनिवासदास ने। उनका 'परीक्षा गुरु' हिंदी का पहला उपन्यास है—यथार्थ पर आधारित, सुधार और उपदेश से भरपूर। पं० बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और राधाकृष्ण का 'निस्सहाय हिंदू'—ये भी तो ऐसे ही हैं। इन्हें देखकर आदमी को आशा हुई होगी।

पर, एक दिन कथा देवकीनंदन खत्री के साथ परियों के देश में चली गई। वहाँ दूध की नदियाँ बहती थीं। सोने के पहाड़ होते थे। कितना सौंदर्य! कितनी स्वच्छंदता!! वह मुग्ध हो गई—

आत्म-विस्मृत ! और, 'चंद्रकांता' का जन्म हुआ, फिर 'चंद्रकांता-संतति' का। 'भूतनाथ', 'कुसुमकुमारी' और 'काजर की कोठरी'—ऐसी और भी बहुत सारी रचनाएँ सामने आईं।

देवकीनंदन खत्री के ये तिलस्मी उपन्यास भी मन-बहलाव के साधन ही थे—पर, बड़े जोरदार। कितनों को पागल कर डाला, इन उपन्यासों ने। मुल्लाओं तक को हिंदी सीखनी पड़ी।

तभी रिवाल्वर के धमाके से वातावरण गूँज उठा। खून, लाश और भेद-भरा सन्नाटा ! कथा धड़कते दिल से, सहम-सहम कर, गोपालराम गहमरी के साथ सूनी अँधेरी गलियों में आगे बढ़ रही थी

गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों ने हिंदी के पाठकों को खूब बहलाया। पर, जब जीवन का यथार्थ पुकार उठा, आत्म-विस्मृति भंग हो गई। पं० किशोरीलाल गोस्वामी सामने आए; दूर-दूर रहनेवाली कथा मनुष्य और समाज के समीप आ गई। कुतूहल उनके उपन्यासों में भी है। प्रेम और विलासिता भी—पर, वहाँ वास्तविकता की वैसी उपेक्षा नहीं, जैसी खत्री या गहमरीजी की रचनाओं में है। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। पर, कुछ-कुछ वैसे ही, जैसे भाषा के क्षेत्र में हाथ आजमाया। 'लवंगलता', 'हीराबाई', 'तारा', 'चपला', 'तरुण-तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लीलावती' और 'लखनऊ की कब्र'—ऐसे लगभग पैंसठ छोटे-बड़े उपन्यास लिख डाले।

और, तब आए पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० लज्जाराम मेहता और श्री ब्रजनंदन सहाय। 'ठेठ हिंदी का ठाट' और 'अधखिला फूल' लिखकर उपाध्यायजी ने उपन्यास के नाम पर भाषा के नमूने पेश किए। 'आदर्श दंपति', 'बिगड़े का सुधार' और 'हिंदू गृहस्थ'—मेहताजी की इन कृतियों में चरित्र-चित्रण की ओर प्रवृत्ति दिखाई देती है। पर, वे उपन्यासकार से अधिक पत्रकार थे। लेकिन इस क्षेत्र में उनका सहयोग श्लाघ्य ही रहा। सहायजी ने बँगला के अनुकरण पर कुछ भाव-प्रधान उपन्यास लिखे—'सौंदर्योपासक' और 'राधाकांत', जिनमें घटना और चरित्र से अधिक व्यंजना की ही प्रधानता है।

इस बीच बँगला से भी काफ़ी अनुवाद हुए। बंकिमचंद्र और शरत्चंद्र के उपन्यासों की धूम मच गई।

पर, मनुष्य तो अब भी जंजीरों में बँधा था—मौन, उदास! कथा उसे बहलाने की कोशिश में लगी थी। परी और जादू के क़िस्से खत्म हो गए, जासूसी कहानियाँ समाप्त हो गईं। पर, मनुष्य था कि मायूस ही बना रहा—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'। बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण और किशोरीलाल गोस्वामी आश्वासन देकर रह गए।

पर, एक दिन वह आश्वासन कोयले से अंगार बन गया। प्रेमचंद ऐसे आए, जैसे तूफ़ान आता है। कथा बिजली-सी कौंध गई, कड़क उठी—'मैं श्रृंखला की इन कड़ियों को टूक-टूक कर दूँगी।' 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'कर्मभूमि' और

'गो-दान'—प्रहार पर प्रहार, जैसे हथौड़े बरस पड़े हों। जंजीरें झनझना उठीं। कड़ियाँ टूट-टूट कर गिरने लगीं। पराधीन मनुष्य की गीली आँखें आशा से चमक उठीं। †

इसी बीच कौशिकजी आ पहुँचे—प्रेमचंद की ही तरह, पर जरा अधिक भावुक होकर। 'मा' में उन्होंने संतान पर माता के प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत किया। 'भिखारिणी' में तथाकथित उच्च वर्ग के अभिमान पर प्रहार किया। उन्होंने दिखाया कि उच्चता किसी खास वर्ग की परंपरागत संपत्ति नहीं। भिखारी भी देवता हो सकता है।

पर, उस दिन कलिका से वज्रोत्पत्ति हुई। पराग-कण भी अंगार बन गए। दार्शनिक की तटस्थता और कवि की कोमलता त्याग कर, जयशंकर प्रसाद रुद्र हो उठे। 'कंकाल' में उन्होंने समाज को चुनौती दी—'जिनको तुम पतित कह कर ठुकराते हो, उनको सहानुभूति से देखो, तो मालूम होगा कि वे उनसे भी महान् हैं, जिन्हें तुम महान् समझते हो।' और, आगे बढ़कर उन्होंने महत्ता का दंभ करनेवाले धर्म और समाज के ठेकेदारों को अनावृत्त कर डाला। सभ्यता के रेशमी पर्दे में छिपा 'कंकाल' जन-जन की आँखों के आगे डोल उठा—कितना भद्दा! कैसा कुरूप!!

भारत की आत्मा उसके गाँवों में बसती है, इसे प्रेमचंद की ही तरह प्रसाद ने भी समझा था। 'तितली' में उनके पात्र शहर में रहकर भी गाँव की ही चिंता करते हैं।

† प्रेमचंद की चर्चा पहले ही तनिक विस्तार से की जा चुकी है।

'इरावती' उनका एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें दार्शनिकता और भावुकता एक साथ मुखर हो उठी है। वहाँ वे अपने मूल रूप में दिखाई देते हैं। 'तितली' भी प्रसादजी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है।

भावना का उत्कर्ष यों उनके सभी उपन्यासों में है—प्रेमचंद के उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक। पर, प्रेमचंद की भाषावाली सहजता और स्वाभाविकता उनमें कहाँ?

वे एक दर्जन उपन्यासों की रचना करना चाहते थे। पर, काल ने ऐसा होने न दिया।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने उग्रतम प्रहार किए। पर, शायद उग्रता ही विफलता का कारण बन गई। प्रहार फिसल कर लक्ष्य से दूर जा पड़े।

'चंद हसीनों के ख़तूत' और 'बुधुवा की बेटी'; 'दिल्ली का दलाल' 'शराबी' और 'चॉकलेट'—ये किस्से नहीं, समाज के चित्र हैं—नग्न और वीभत्स! इनमें यथार्थवाद सीमा का अतिक्रमण कर गया है। पर, अति की भी सीमा तो कहीं होनी ही चाहिए!

सियारामशरण गुप्त ने सीमा के भीतर ही यथार्थ के दर्शन और चित्रण किए। गाँधीवाद से प्रभावित, सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों से शासित, उन्होंने समाज की कुछ अच्छी तस्वीरें दीं—'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' और 'नारी'। पर, उपन्यास कदाचित उनका अभीष्ट क्षेत्र नहीं।

'कजरी', 'पिया', 'सत्रिता' 'वचन का मोल' और 'जीवन की मुस्कान', नारी-आदर्श के पाँच उच्चतम शिखर हैं—हिंदी उपन्यास-साहित्य को उषादेवी मित्रा की पाँच महान् भेंट। उनकी बंगाली भावुकता और अलंकृत शैली पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है।

हास्य-व्यंग्य के लेखक होते हुए भी जी० पी० श्रीवास्तव ने हिंदी साहित्य को 'दिल की आग : उर्फ दिल जले की आह' नामक असाधारण मनोवैज्ञानिक उपन्यास दिया। इसके पात्र 'अलिंद' और 'संतोषानंद' को भुलाया नहीं जा सकता।

शैली का यह चमत्कार श्री चंडीप्रसाद हृदयेश में पराकाष्ठा को पहुँच गया। उन्होंने कथा को काव्य बना कर गद्य में लिखा, जैसे कभी 'बाण' ने लिखा था।

ऐय्यारी और जासूसी की राख पर प्रेमचंद का जो अंकुर उगा था, वह देखते-ही-देखते वट-वृक्ष बन गया और उसकी छाया-परिधि ने यहाँ तक की जमीन को किसी-न-किसी तरह अपने प्रभाव में समेट लिया।

पर, अब ? कथा प्रेमचंद-प्रदेश की सीमा-रेखा पर खड़ी सोच रही थी, वह किधर जाए। पराधीन मनुष्य करुण भाव से देख रहा था, उसकी आशा धीरे-धीरे क्षितिज के पंक में धँसती जा रही है।

तभी मार्क्स पुकार उठा—'मुक्ति चाहते हो, तो समाज की व्यवस्था को बदलो !' फ्रायड की आवाज गूँज उठी—'अपने अंतर

को टटोलो। बाहर की उलझन तो भीतर की छाया भर है।' एक ने बहिर्जगत में क्रांति ला दी, दूसरे ने अंतर्जगत में मंथन उत्पन्न कर दिया। और, मनुष्य का संपूर्ण जीवन ही आलोड़ित-विलोड़ित हो उठा। फिर कथा—जीवन की तस्वीर—अप्रभावित कैसे रह जाता? उसमें मनुष्य का अंतर झाँक उठा, बाह्य मुखर हो उठा।

प्रेमचंद के बाद हिंदी-उपन्यास मोटे तौर पर स्पष्टतः दो धाराओं में विभक्त होकर बह चला—पहली मनोवैज्ञानिक और दूसरी साम्यवादी।

जैनेंद्र को हिंदी-उपन्यास की मनोवैज्ञानिक धारा का अग्रदूत कहा जा सकता है, भले ही वे फ्रॉयड या अन्य किसी मनोवैज्ञानिक से सर्वथा अप्रभावित हों।

मेड़ के उस पार जब प्रेमचंद की फसल लहरा रही थी, 'प्रसाद' और 'कौशिक' के पौधे झूम रहे थे—इस पार दूर, सबसे अलग, मिट्टी को चीर कर एक नया अंकुर फूट निकला। चिकने पात, आकर्षक रंग, नया ढंग—वे थे जैनेंद्र। उन्होंने भारत की मिट्टी से रस लिया, गाँधी के युग से धूप-बयार ली। पर, पनपे और बढ़े अपने ढंग से—विचारों में मौलिक, भाषा में मौलिक, शैली में मौलिक।

प्रेमचंद ने पुरुष को पहचाना था; जैनेंद्र ने नारी को परखा। प्रेमचंद की नजर बाहर की दुनिया पर रही, जैनेंद्र की दृष्टि भीतर तक पैठ गई। उन्होंने मन का घूँघट उघार कर, सत्य के दर्शन किए। 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'विवर्त'

—इन उपन्यासों के नारी-चरित्र इस बात के प्रमाण हैं। अकेली 'सुनीता' शरत् के सारे नारी-चरित्रों से होड़ लेती है।

जिस तरह 'गो-दान' लिख कर प्रेमचंद महान् हो गए, उसी तरह 'सुनीता' लिख कर जैनेंद्र। केवल 'सुनीता' लिखकर भी वे शायद इससे कम गौरव के अधिकारी नहीं हुए होते। 'व्यतीत' भी जैनेंद्र का एक श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यास है।

पुण्य का प्रलोभन ! पाप का आतंक !!—धर्म के दो पाटों के बीच मनुष्य कराह रहा था। गीता ने बहुत पहले मुक्ति की राह बताई थी—अपने सारे कर्मों का कृष्णार्पण कर डालो। पर, पाप की खूबसूरती मनुष्य को लुभाती रही ; वह पाप करता रहा। तब गाँधी और टॉल्सटाय ने कहा—'पापी को सहानुभूति दो।' पर, फ्रॉयड ने शंका की—'पाप नाम की कोई चीज कहीं है भी ? हम तो वही करते हैं, जो स्वाभाविक है। और, जो स्वाभाविक है, वही ठीक है।' —'चित्रलेखा' में कथा के बहाने इस पाप और पुण्य की समस्या पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए भगवतीचरण वर्मा बोल उठे—'जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वाभावके अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। वह अपना स्वामी नहीं, परिस्थितियों का दास है—विवश है (?) वह कर्त्ता नहीं है, केवल साधन है। फिर, पुण्य और पाप कैसा ?'

पर, 'चित्रलेखा' में मात्र यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही नहीं, कथा का आकर्षण भी है। कुमारगिरि, सामंत बीजगुप्त और इन

दो तटों के बीच कल-कल, छल-छल बहनेवाली 'चित्रलेखा'—इन्हें भुलाया नहीं जा सकता। कथोपकथन की मार्मिकता पर मुग्ध रह जाना पड़ता है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने पाप और पुण्य—वासना और कर्त्तव्य—के संघर्ष को वाणी दी। पुण्य को जीतता हुआ दिखलाया। पर, हैं उनके उपन्यास नारी और प्रेम के उपन्यास ही—रोमांस से लबालब। 'प्रेम-पथ', 'पिपासा', 'दो बहनें', 'चलते-चलते' और 'निमंत्रण'—सभी तो इसी बात के प्रमाण हैं।

और, श्री सर्वदानंद वर्मा में तो पाप और पुण्य के तट ही डूब गए। 'नरमेध' में उन्होंने विवाह और पातिव्रत्य की धज्जी उड़ाकर रख दी। परिवार की दीवारें डोल उठीं। नारी को मुक्त कर वे यौन-बंधनों से भी ऊपर उठा ले गए। परंतु, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'प्रश्न' और 'संस्मरण'—निस्संदेह ही सर्वदानंद वर्मा के ये उपन्यास उच्च श्रेणी में रखे जाने योग्य हैं।

'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास भी है, आत्मकथा भी। उसका प्रथम भाग 'फ्रॉयडी तत्त्व और सिद्धांत-विवेचन से बोझिल है'। कथा को जो थोड़ा महत्त्व मिल सका है, वह दूसरे भाग में। पर, घटनाएँ इतनी असंबद्ध हैं कि कहानी ठीक से बन नहीं पाती। 'नदी के द्वीप' उनका एक उल्लेखनीय मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। डी० एच० लॉरेंस की छाया उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर डोलती है। पर, लॉरेंस वाली स्पष्टवादिता किसी पृष्ठ पर नहीं।

श्री उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा था' अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' की याद दिला देता है। यह भी एक जीवनी ही है। पर, अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सुलझी हुई।

मनोविश्लेषण की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे रोग की सीमा तक जा पहुँची। कभी केशव, देव, पद्माकर और भूषण ने लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप कविताएँ लिखी थीं। अब इलाचंद्र जोशी, नरोत्तम नागर और द्वारिकाप्रसाद मिश्र फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक 'लक्षणों' के उदाहरण-स्वरूप उपन्यास लिखने लगे।

जोशीजी का 'संन्यासी' ईर्ष्या-मनोवृत्ति का उदाहरण है। 'पर्दे की रानी' में उन्होंने जन्मजात संस्कारों की उद्दाम शक्ति पर प्रकाश डाला है। 'निर्वासित' भी एक असाधारण उपन्यास है। 'प्रेत और छाया' का दावा उसकी सामर्थ्य से कहीं अधिक विराट है—लेखक मनोविश्लेषण द्वारा संपूर्ण संसार की समस्या हल कर देने पर तुला है। जोशीजी का यह उपन्यास विश्व-उपन्यास साहित्य के समक्ष रखा जा सकता है। 'जहाज का पंछी' जोशीजी का नवीनतम उपन्यास है। उपन्यासकार की निजी प्रतिभा कहीं भटक नहीं पाई है। चरित्र-मंथन की सूक्ष्मता और भाषा की प्रौढ़ता जोशीजी की अपनी विशेषता है।

नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' में नायक मा और पत्नी के प्रेम के बीच डोल रहा है। अपनी भगिनी का रूप और यौवन भी उसे रह-रहकर मौन-निमंत्रण देता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास मनोविश्लेषण और सामाजिकता का संगम प्रस्तुत करते हैं। 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' निम्नमध्य-वर्ग के करुण चित्र हैं। पर, रोमांस का रंग भी उनमें कम नहीं। हाँ, अश्लीलता की सीमा का कहीं-कहीं लेखक ने अतिक्रमण कर डाला है।

प्रेमचंद का यथार्थवाद, साम्यवाद से मिल कर उग्र हो उठा। शोषण के विरुद्ध उसने क्रांति छेड़ दी।

बिखरे बाल, नंगे पाँव, कमर में पिस्तौल, बच-बच कर, छुप-छुप कर चलता हुआ—यह कौन? यशपाल--क्रांतिकारी-दल का सदस्य। नहीं, हिंदी का क्रांतिकारी कथाकार—उपन्यास की साम्यवादी धारा का अग्रणी। उसके उपन्यासों में हर पृष्ठ पर वर्ग-संघर्ष के शोले भड़कते हैं, साम्यवादी भावना के नारे बुलंद होते हैं। पर वहाँ सिर्फ आग ही नहीं, रोमांस की तरलता भी है। 'दादा कॉमरेड', 'देश-द्रोही', 'पार्टी कॉमरेड', 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' —यशपाल के ये उपन्यास मनुष्य को शोषण से मुक्ति दिलाने के अनवरत प्रयास हैं, पर स्वयं वाद के बंधनों से जकड़े।

'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय'—ऐसे उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर राहुल ने उस साम्यवादी व्यवस्था के चित्र दिए हैं, जिसमें मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र और सानंद हो सकेगा।

रांगेय राघव ने भी आज की कलम से कल की बात लिखी—कल जो इतिहास के पृष्ठों में घुट रहा था। उसकी प्रतिभा का

संस्पर्श पाकर अतीत दर्पण बन गया और उसमें वर्तमान झाँक उठा। 'मुर्दों का टीला' और 'भीवर' ऐसे दर्पण हैं। 'पराया', 'घरौंदे,' 'विषादमठ', 'सीधा-सादा रास्ता' आदि में जलते हुए वर्तमान की तस्वीरें भी उतारी गईं।

'टेढ़े-मेढ़े-रास्ते' में भगवतीचरण वर्मा ने आज की उलझी हुई राजनीतिक परिस्थितियों का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित किया है।

नागार्जुन का 'बलचनमा' पूँजीवाद और सामंतशाही की आग में जलते-बिखरते गाँव की करुण कहानी है; 'रतिनाथ की चाची' एक विधवा की दर्द-भरी दास्तान। 'बाबा बटेसरनाथ' में भारतीय आंदोलनों का इतिहास बोल उठा है। 'नई पौध' प्रेमचंद और शरत् की प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करनेवाला ग्राम-समस्या-प्रधान सफल उपन्यास है।

गाँव के चित्रांकन में नागार्जुन की कलम तूलिका को मात करती है, व्यंग्य के प्रहार में पैनी छुरी को।

उसकी भाषा गाँव की मिट्टी से पनपी है, इसीलिए सोंधी गंध-भरी है, जिंदगी से भरपूर।

और, उधर, उपेक्षा के अंधकार में वह जो कुछ मूर्तियाँ दीख पड़ रही हैं, कम महत्त्वपूर्ण नहीं। शिवपूजन सहाय, राजा राधिकारमण, देवनारायण द्विवेदी, अनूपलाल मंडल और प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'—इन्होंने प्रेमचंद की परंपरा को जीवित रखने की कोशिश की थी; कुछ अब भी कर रहे हैं। 'देहाती दुनिया' के लेखक के रूप में सहायजी

सदा स्मरणीय रहेंगे। राजा साहब में यत्र-तत्र प्रेमचंद वाली प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, पर शैली जो उनकी सबसे बड़ी विशेषता है, वही सबसे बड़ी कमजोरी भी है। सहायजी के बाद अनूपलाल मंडल ही प्रेमचंद की परंपरा की सबसे अधिक रक्षा कर सके। पर 'रक्त और रंग' में लीक से उतर कर वे एक नया मोड़ लेते दिखाई पड़ते हैं--बाहर से भीतर की ओर, प्रेमचंद-जगत् से जैनेंद्र-लोक की ओर। इस उपन्यास की 'प्रभावती' और 'अमल' जैनेंद्र की 'सुनीता' और 'हरिप्रसन्न' की याद दिला देते हैं। पर, मातृत्व की कामना से विभूषित होकर 'प्रभावती' महानतर हो उठी है। बाल-मनोविज्ञान के सूक्ष्म विश्लेषण के रूप में 'रक्त और रंग' हिंदी-उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

और, अतीत के शृंग से फूट कर बहनेवाली उपन्यास-धारा ग्रीष्मकालीन नदी की तरह क्षीण होती हुई भी उपेक्षनीय नहीं। चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा और राहुल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और निराला—इनके ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक उपन्यासों ने भी हिंदी की पर्याप्त गौरव-वृद्धि की है। देवनारायण द्विवेदी को भी नहीं भुलाया जा सकता। 'पश्चाताप', 'प्रणय', 'कर्त्तव्याघात' और 'दहेज' की रचना कर इन्हीं चार उपन्यासों से द्विवेदीजी हिंदी-साहित्य में अमरता पा गए हैं। हिंदी का यह अकेला वरद-पुत्र, जिसके उपन्यासों को पढ़ने के लिए, हिंदी-उपन्यासों के पाठकों से प्रेमचंदजी ने अपील की।

प्रागैतिहासिक उपन्यास के नाम पर अब तक मुंशी के अनुवाद से अधिक और क्या थे ? इस अभाव की पूर्ति का श्रेय है आचार्य चतुरसेन की बूढ़ी कलम को, जिससे 'वयं रक्षामः' जैसे उपन्यास की सृष्टि संभव हो सकी। 'वैशाली की नगर-वधू', 'जय सोमनाथ'-जैसे खोजपूर्ण उपन्यास किसी भी साहित्य के गौरव हो सकते हैं। इनमें लेखक का गंभीर अध्ययन कला में भींग कर आकर्षक हो उठा है।

राज-घरानों की न जाने कितनी जलती हुई कहानियाँ राजपूताना और बुंदेलखंड की मिट्टी में सो रही थीं, हवा में भटक रही थीं। वृंदावनलाल वर्मा ने उन्हें जीभ दे दी और वे 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'मृगनयनी' बन कर बोल उठीं। इन उपन्यासों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्थानीय रंग और गौरव के भी दर्शन होते हैं—रोमांस भी कम नहीं। उन्होंने एक बार स्वयं कहा था—मैं उपन्यासों में यथार्थवाद, आदर्शवाद और रोमांस बुन देने के पक्ष में हूँ। लोक-वार्ता को समुचित महत्त्व दे सकनेवाले वे अकेले उपन्यासकार हैं—हिंदी के स्कॉट।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिख कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-उपन्यास को नई दिशा दी है—एक नया मार्ग, पर ऐसा जिस पर चल पाना सब के बूते की बात नहीं। उसमें बाण का जीवन ही नहीं, बाण का युग भी बोल उठा है—और बाण की ही वाणी में।

डा० देवराज, विष्णु प्रभाकर और राधाकृष्ण; बेनीपुरी और चंद्रगुप्त विद्यालंकार; इंद्र विद्यावाचस्पति, मन्मथनाथ गुप्त और 'वियोगी' --इन प्रतिभाओं ने भी हिंदी-उपन्यास को साधना दी है, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

पर, ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो अछूते और उपेक्षित पड़े हैं। यह विज्ञान का युग है, पर वैज्ञानिक उपन्यास नहीं के बराबर। बच्चों के लिए भी उपन्यास लिखे जा सकते थे। खत्री और गहमरी की परंपरा दम तोड़ रही है।

पर, साधना का दीया जल रहा है। उसमें स्नेह अभी शेष है।

'माँ ! कह एक कहानी'

(कहानी)

वह सृष्टि का आदिकाल था। साँझ विदा हुई। रात उतर आई। पर, मनु आखेट से न लौटे। तारों की धूमिल छाया में हिमालय की एक चट्टान पर अन्यमनस्क-सी बैठी श्रद्धा उनकी बाट देख रही थी कि सहसा गले में बाँहें डाल कर 'मानव' मचल उठा—"माँ ! उस स्वर्ण-मृग का क्या हुआ ?"

"किस स्वर्ण-मृग का, पुत्र ?"—श्रद्धा ने पूछने भर को पूछ लिया। उसकी दृष्टि पूर्ववत् सुदूर देवदारू-वन की संघनता में खोई हुई थी।

और 'मानव' की बाल-कल्पना खोई थी स्वर्ण-मृग में। बोल उठा—"वह जो पद्मसर के पास वन में रहा करता था······तू ही तो कह रही थी उस दिन।"

"पर अब आज नहीं। फिर कभी। जा, सो जा!"—श्रद्धा ने टालना चाहा। पर, मानव माना नहीं। हठ कर बैठा—"मैं तो सुन कर ही दम लूँगा।"

हार कर श्रद्धा ने कल्पना की—"एक दिन एक व्याधा उधर आ निकला। स्वर्ण-मृग को देखकर उसके हर्ष और विस्मय का ठिकाना न रहा। उसने उसे पकड़ना चाहा······"

"फिर ?"—मानव ने जिज्ञासा की।

"आहट पाते ही स्वर्ण-मृग भाग चला"—श्रद्धा कहती गई—"भागता-भागता कदली-वन जा पहुँचा……"

"कदली-वन ?"—मानव ने बीच ही में टोका।

'कदली-वन"—श्रद्धा बोली—"वहाँ चित्रवर्ण नाम का एक मयूर रहा करता था। उससे उसकी बड़ी मैत्री थी……"

……और इस तरह कहानी को जन्म मिल गया। श्रद्धा कहती रही। मानव सुनता रहा। कहानी विकसित होती रही। और, कहानियाँ सुन-सुनकर मानव जब विकसित हुआ, खुद कहानी बन गया।

कहानी की उम्र मनुष्य से कम क्या होगी! पर, अपनी प्रारंभिक अवस्था में वह भी पशु-पक्षियों के संसार तक ही सीमित रही। क्रमशः परिधि-विस्तार होता गया। धीरे-धीरे पर्वतों से उतर कर, वनों से निकल कर वह मनुष्य के देश आ गई। कुछ दिनों तक राजमहलों ने उसे लुभाया। पर, झोपड़ियाँ जब पुकार उठीं, उससे रहा न गया। जिस मनु-पुत्र के साथ हिम-शिखरों में खेल-खेलकर बड़ी हुई थी, उसकी पीड़ा पर मौन कैसे साध लेती? आँखें भर आईं। वह मनुष्य का विश्लेषण करने लगी। उसकी समस्याओं पर विचार करने लगी। कल तक भाग्य में उसका विश्वास था। आज वह मनुष्य के पौरुष को ललकार उठी।

श्रद्धा की अंचल-छाया में जिस दिन कहानी से मानव की पहली मुलाकात हुई थी, उसने उसे मात्र कौतूहल की वस्तु समझा था। पर, आज जीवन के संग्राम में वह उसकी संगिनी बन गई—प्रेरणा और शक्ति।

संस्कृत और बँगला के राज-पथों और वीथियों से होती हुई कहानी कब हिंदी के आँगन में आ पहुँची, ठीक मालूम नहीं। कहते हैं, किशोरीलाल गोस्वामी, रामचंद्र शुक्ल, भगवानदास आदि की कुछ कृतियों में पहली बार उसके पैरों की हल्की-सी 'रुन-झुन' सुनाई दी थी। पर, सामने तो आई 'सरस्वती' (पत्रिका) के साथ ही, सन् सात में—बंग महिला की "दुलाई वाली" के रूप में। 'दुलाई वाली' हिंदी की—सबसे पहली कहानी थी, जो आधुनिक कहानी के सबसे अधिक पास थी। पर, इस पहली झलक के बाद वह वर्षों न दिखी।

सन् १६०६ ई० में काशी के क्षितिज कर 'इंदु' (मासिक पत्र) का उदय हुआ और निराशा की कालिमा धुलने लगी। 'प्रसाद' सामने आए। 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' सामने आई; फिर एक-एक कर चार और कहानियाँ। 'छाया' इन्हीं पाँचों का संग्रह है। 'प्रतिध्वनि', 'आकाश दीप', 'आँधी' और 'इंद्रजाल' में उनकी शेष कहानियाँ संगृहीत हैं।

इस रोमांटिक कलाकार के पुलक-स्पर्श से कहानी की जवानी जाग उठी। उसने काव्य और नाटक से शृंगार के प्रसाधन ले-ले

कर उसे दुलार से सँवारा। आँखों में भावुकता भरी, अंगों में कल्पना की कमनीयता। लक्षणा और व्यंजना उसके सुकुमार चरणों में नूपुर बन कर लिपट गईं। इस मोहक रूप में जब वह जीवन की राहों से गुजरी, देखनेवाले मुग्ध रह गए। पर, सारी मोहकता के बावजूद प्रसाद की कहानियाँ विलास की सामग्री नहीं। व्यक्ति के साधारण जीवन में जो कुछ मानवीय और असाधारण है, जहाँ निश्छल प्रेम और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित है, उसको उभार कर सामने लाना ही उन्हें अभीष्ट था।" पर, उनकी कहानियों में कहानीपन कम है। वे जिस सीमा-रेखा पर खड़ी हैं, वहाँ से गद्य-काव्य का लोक शुरू होता है।

राय कृष्णदास, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', विनोदशंकर व्यास और गोविंदवल्लभ पंत भी तो 'प्रसाद' के ही पड़ोसी हैं! भावुकता और रंगीनी उनकी कहनियों में कम नहीं। पर 'प्रसाद' प्रसाद थे—अनुकरण की पहुँच से ऊपर, बहुत ऊपर। उन्हें कौन पा सका? राय कृष्णदास की बात और है। राजनीति, धर्म और इतिहास—सभी उनकी कहानी की परिधि में सिमट आए हैं। चित्रमयता से अधिक भी वहाँ कुछ है; 'सुधांशु' और 'अनाख्या' की बहुतेरी कहानियाँ इस बात की साक्षी हैं।

'प्रसाद' के साथ कहानी धरती और आकाश की मिलन-रेखा पर खड़ी थी। तभी मिट्टी के दग्ध हृदय से पीड़ित मानवता की करुण पुकारें उठ-उठ कर उसकी चेतना को झकझोरने लगीं।

मीठे सपने टूट गए। झिपतीं पलकें हठात खुल गईं और उसने देखा, मनुष्य की पीड़ा मूर्त होकर सामने खड़ी है—प्रेमचंद के रूप में वह नीचे उतर आई है। रोमांस की दुनिया पीछे छूट गई है। खेत, खलिहान और झोपड़े उसके आवास बन गए हैं।

प्रेमचंद की पहली कहानी 'पंच-परमेश्वर' सन् सोलह में प्रकाशित हुई और उसके बाद तो तारतम्य ही बँध गया। जीवन के शेष बीस वर्षों में उन्होंने प्रायः तीन सौ कहानियाँ लिख डालीं—जन-जीवन के तीन सौ मनोवैज्ञानिक चित्र, यथार्थ की रेखाओं में आदर्श का रंग! भाषा में जीवन की वह गरमाई अन्यत्र फिर न दिखी।

आर्यसमाजी किस्म के सुधार से उनकी यात्रा शुरू हुई थी। पर, देखते ही देखते उन्होंने बड़ी लंबी दूरी तय कर ली। गुलेरी, कौशिक और सुदर्शन-जैसे पथ के साथी भी पीछे छूट गए। वे वर्ग-संघर्ष के मैदान में आ खड़े हुए। मनुष्य की आँखें आशा से चमक उठीं। पर, तभी जीवन की गोधूलि घनीभूत होने लगी और मौत ने पर्दा डाल दिया।

'कफ़न', 'ईदगाह', 'आत्माराम', 'पूस की रात'—ऐसी अनेक बेजोड़ कहानियाँ हैं, जो कहती हैं कि मात्र कहानी लिखकर भी शायद वे कम महान् न हुए होते।

प्रेमचंद ग्रामीण जीवन के चित्रकार थे। कौशिक और सुदर्शन ने शहर को साधना-केंद्र बनाया। समाज-सुधार दोनों की कहानियों का प्रधान स्वर है।

'कौशिक' जीवन की सतह पर संतरण करते हैं। गहराई से उनका मोह नहीं। पर, सुदर्शन का आग्रह है जीवन के शाश्वत सत्य के प्रति। वे उदात्त माननीय भावनाओं को जगाते भी चलते हैं। 'कल्प-मंदिर' और 'चित्रशाला' में कौशिक की अनेक कहानियाँ संगृहीत हैं। पर 'ताई' वाली लोकप्रियता शायद ही अन्य किसी कहानी को मिल सकी। 'सुप्रभात' और 'परिवर्तन,'नगीना' और 'पन-घट', 'तीर्थ-यात्रा' ऐसी लगभग दस पुस्तकों में सुदर्शन की कहानियाँ समा सकी हैं। पर, उनकी कला का उत्कर्ष तो 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री' और 'न्याय-मंत्री'-जैसी कहानियों में ही दर्शनीय है।

भाषा दोनों की प्रेमचंद-जैसी है—साफ-सुथरी, मँजी हुई, प्रसादपूर्ण। पर, सत्य और चित्र में अंतर होता है।

तीन पगों में वामन ने विधाता की सृष्टि नाप ली थी। तीन कहानियाँ लिखकर गुलेरीजी हिंदी-साहित्य में अमर हो गए— 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'। तीसरी उनकी आखिरी और बेजोड़ कहानी है—हिंदी की महान् उपलब्धि। प्रथम महायुद्ध के वीर सैनिक लहना सिंह की यह दास्तान जैसे कहानी ने खुद सुनाई है--गीले कंठ से, भीगे शब्दों में। उसका स्वर सहानुभूति से सजल होकर काँप गया है और इस आर्द्रता में ही उसकी सारी सुंदरता निखर उठी है।

सन् बाईस की बात है। प्रेमचंद के सीमा-प्रांत पर बारूद में आग लग गई। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' होकर मैदान में आ खड़े

हुए। कलम की नोक से उन्होंने सभ्यता की चादर उघार दी और समाज अपनी नग्नता पर सिटपिटा कर रह गया।

'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार' और 'सनकी अमीर'—उनके इन संग्रहों की कहानियाँ पूँजीवाद और सामंतवाद के फोड़ों पर नश्तर का काम करती हैं।

नश्तर लगाने से आचार्य चतुरसेन भी बाज न आए। 'उग्र' की ही तरह उन्होंने भी समाज की कुरीतियों का भंडाफोड़ किया। पर 'उग्र' वाली 'सहज तीव्रता' वहाँ कहाँ! शैली का वह 'कसाव' भी नहीं। फिर भी कुछ कहानियाँ बड़ी सुंदर बन पड़ी हैं—'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' और 'दे खुदा की राह पर'; 'ककड़ी की कीमतें' और 'भिक्षुराज'।

इस तरह कहानी मनुष्य के कदम-से-कदम मिला कर उसके शत्रुओं से लड़ती रही, लड़ती गई। और, एक लंबा अर्सा बीत गया। पर, मनुष्य था कि साथ होकर भी हाथ न आया। वह एक दिन शिकायत कर बैठी—"साथी! यह तो कह, मुझ से मन का भेद क्यों छुपाता है? मैं तो तेरी हूँ।" और, मनुष्य झेंप गया। बोला—"नहीं तो! भला तुझसे क्या छुपाना! आखिर मैं भी तो तेरा ही हूँ।"

वह पकड़ती। वह पिछल जाता। पर, अवसर पाकर एक दिन पास आ खड़ी हुई। मनुष्य ने बहाने बनाए। वह मानी नहीं। आँखों में डूब कर मन की गहराई तक पैठ गई।

कहानी को जैनेंद्र मिल गए। फिर तो मन का भेद खुलने लगा। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में डालकर उन्होंने उसके चित्र उतारे। उन चित्रों में भीतर की दुनिया बोल उठी; बाहर के वैषम्य प्रतिबिंबित हो उठे। व्यक्ति ही उनकी साधना का केंद्र है। पर, वही तो समाज की आधारशिला भी है। उसके प्रश्नों पर विचार करते-करते वे दर्शन की ऊँचाई तक उठ गए।

उनकी भाषा के आनन पर भोलापन भी है, वक्रता भी—प्रयास भी और वह स्वाभाविकता भी, जो मर्म को छू लेती है। पर, कितनी साधना करनी पड़ी होगी, इस उपलब्धि के लिए।

कहानी के इस गौरव-शिखर ने न जानें कितनों को लुभाया, मुग्ध किया। पर पहुँच कौन सका वहाँ तक ? क्या इलाचंद जोशी और अज्ञेय ? नहीं। जैनेंद्र-जैसा विशाल जीवनानुभव और मानव-मन की समझ उनमें कहाँ ? फ्रायड की माया ने उन्हें भरमा लिया। उनकी कहानियाँ रुग्न मन की दुर्बलताओं का अलबम मात्र बन कर रह गईं। 'वैयक्तिकता' के नाम पर सामाजिक सीमाओं के विरुद्ध विद्रोह उन्होंने अवश्य किया, पर उस विद्रोह में विद्रोह से अधिक असंयम है। अज्ञेय फिर भी श्रेष्ठतर कहानीकार हैं—जोशी से अधिक रचना-कुशल। टेकनीक के क्षेत्र में उनके प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'विपथगा', 'परंपरा', 'जयदोल', 'कोठरी की बात' 'अमरवल्लरी' और अन्य कहानियाँ'—इन संग्रहों की कहानियाँ काफी सुंदर बन पड़ी हैं। जोशीजी की कहानियों के संग्रह "आहुति और

दीवाली'', 'रोमांटिक और छाया', 'होली', और 'ऐतिहासिक क़थाएँ' हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी और भगवतीचरण वर्मा; पहाड़ी और नरोत्तम नागर—इन कथाकारों ने भी 'फ्रायडवाद' को ही पल्लवित किया। पर, उनकी साधना से हिंदी-कहानी की श्रीवृद्धि भी हुई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कहानी मनुष्य के मन-मकरंद में डूब कर विभोर हो जाना चाहती थी। पर, साध पूरी न हो सकी। ताप वहाँ भी कम न था। बाहर की ज्वाला भीतर तक फैल चुकी थी। वह यशपाल के साथ बाहर आ खड़ी हुई। उसने देखा—आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक वैषम्य के नीचे जिंदगी कराह रही है। पर, इस बार आँखों में पानी नहीं, खून उतर आया। वह क्रुद्ध होकर टूट पड़ी। पर, इस आक्रोश में भी खूबसूरती कम न थी। यशपाल की कहानियों में समस्याओं के विश्लेषण के साथ-साथ कला की बारीकी भी है। 'अभिशप्त', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत्त चिनगारी', 'फूलों का कुर्त्ता' और 'धर्मयुद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक'—इन संग्रहों की कहानियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

उस दिन वैभव की दीवारें काँप उठीं। कुछ लोगों ने मौन मनोविश्लेषण के नाम पर कहानी को भरमाना चाहा। पर, मन्मथनाथ गुप्त और बेनीपुरी, नागार्जुन और हंसराज 'रहबर',

अमृतराय और रांगेय राघव, और चंद्रकिरण सौनारिक्सा-जैसी प्रतिभाएँ सामने आ खड़ी हुईं। उन्होंने कहानी के हाथ में मशाल दे दी। वह शोषण के दुर्ग पर जा चढ़ी। भृकुटी चढ़ गई और प्रहार-पर-प्रहार होने लगे। कंगूरा टूटा। प्राचीरें टूटने लगीं।

इस दुर्ग की धूल पर मंदिर खड़ा होगा; उसमें मानवता की मूर्त्ति प्रतिष्ठित होगी—इसीलिए कोलाहल से दूर राधाकृष्ण, 'अश्क' और विष्णुप्रभाकर; सेंगर और सियाराम शरण-जैसे शिल्पी उसकी आदर्श प्रतिभा गढ़ने में लीन थे। उनकी दृष्टि क्रमशः मनुष्य के भीतर से बाहर तक प्राप्त हो गई, जैसे सूई का धागा फूल के आर-पार हो जाए। यथार्थ के पत्थर को तराश कर उन्होंने आदर्श का रूप दे डाला। पर, मंदिर में प्रतिष्ठित होने के पूर्व निर्माण की न जाने कितनी प्रक्रियाओं से उसे गुजरना पड़ा।

निर्माण के दूतों को अतीत की आँखें चाहिए, जिसकी ज्योति वर्तमान को भेद कर भविष्य तक व्याप्त हो उठे। वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय और राहुल ने इसीलिए इतिहास के गह्वर में पैठ कर वहाँ से आज के प्रश्नों पर शर-संधान किया। पर, काश यह परंपरा जरा और खूबसूरत बन कर आगे बढ़ पाती!

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं की कौरवी सेना एक ओर—कहानी एक ओर! मात्र आदर्श के अस्त्र से

लड़ना जब कठिन हो गया, राधाकृष्ण, अश्क और अमृतलाल नागर ने उसके तरकस में व्यंग्य के बाण भर दिए—पैने और अचूक !

महादेवी और बेनीपुरी की तीखी खूबसूरत तस्वीरें (शब्द-चित्र) आस-पास आ खड़ी हुईं—करुणा और आक्रोश का अद्भुत समन्वय।

संघर्ष जोर पकड़ने लगा। विरोधी शक्तियाँ काई-सी फटने लगीं। पर, कहानी अस्त-व्यस्त थी—बिखरी अलकें, सूखे होठ, धूल-धूसरित शरीर। प्रो० नलिनविलोचन और डा० दिवाकर प्रसाद जैसी प्रतिभाओं ने फिर से उसका रूप सँवारा। उसे कलात्मक स्तर तक उठाने की कोशिश की।

हसरत-भरी निगाहों से उसकी ओर देख कर मानव बोल उठा—"सहचरी ! मैं ऊब उठा हूँ, इस पल-पल के संघर्ष से। तबीयत होती है, कहीं दूर चला जाऊँ—बहुत दूर······।" बोलते-बोलते उसकी दृष्टि सुदूर शून्य में खो गई। वह कहता रहा—"उड़ा ले चल मुझे हिमवान के उसी पार्वत्य प्रदेश में, जहाँ हठात उसी दिन तू मुझे मिल गई थी। ······ओह ! कितना अच्छा होगा, तारों की निर्जन छाया के नीचे किसी शिलाखंड पर बैठी तू कहेगी, मैं सुनूँगा और······और······।"

'नहीं'—कहानी ने जैसे एकबारगी उसकी चेतना के सारे तार झकझोर दिए—"तुझे जिंदगी से दूर पराजय की घाटियों में भगा ले चलूँ, यह मुझ से न होगा। फिर अब तो हम मंजिल के

करीब आ पहुँचे। इस समर-क्षेत्र के उस पार ही तो है हमारे सपनों का देश, जहाँ जीवन के हर वृंत पर अरमानों की कलियाँ खिलती हैं। ......साथी ! जरा कल्पना तो कर, कितना मधुर होगा वह क्षण, जब फूलों की छाया में बैठ कर मैं कहूँगी, तू सुनेगा और हम दोनों विभोर हो जाएँगे। ......आ, शीघ्रता कर, हम वज्र बन कर टूट पड़ें शोषण के इस दुर्ग पर !"

और, मानव उठ खड़ा हुआ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय !

(समालोचना)

अंधकार छाया था। राहें डूब गईं थीं। साहित्य के कदम लड़खड़ा गए। उसने पुकारा—तमसो मा ज्योतिर्गमय···! और दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं। पर्वतों और शिलाखंडों से टकरा-टकरा कर आवाज अंतरिक्ष में गूँजने लगी—तमसो मा ज्योतिर्गमय····!!

समालोचना के प्रदीप ने धीरे से सर उठाया। अंधकार की काली कसौटी पर प्रकाश की स्वर्ण-रेखा-सी खिंच गई। भरत मुनि की गंभीर वाणी सुनाई दी—"रस काव्य की आत्मा है !" पर, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को लेकर आचार्यों ने वितंडा खड़ा कर दिया।

कविता विस्मित रह गई—यह क्या ? अंधकार एक प्रश्न था ; प्रकाश भी समस्या बन गया ! फिर कुछ सोच कर आलोचना के दीप को उसने आँचल में छुपा लिया और चुपचाप आगे बढ़ गई। उसके धुँधले प्रकाश में संस्कृत के पथों और पगडंडियों को पार करती हुई वह हिंदी के देश जा पहुँची। पर, वहाँ तलवारें बज रही थीं। खून के फव्वारे छूट रहे थे। तूफान में दिया बुझते-बुझते बचा। चारण-काल आलोचना के लिए उपयुक्त काल न था।

भक्ति-युग के शांत स्निग्ध वातावरण में उसकी लौ जरा स्थिर हो सकी। पर, धूप और अगरु के धुएँ में प्रकाश उलझ कर रह

गया। भक्ति को एक स्वतंत्र रस की मान्यता दे डाली गई। दास्य, सख्य, माधुर्य आदि उसके अंगीभूत रस बन गए। कृष्णोपासना के नाम पर शृंगार को भी सम्मिलित कर लिया गया। आवश्यकतानुरूप नायक-नायिकाओं की उद्भावना तक हो गई। और, इस तरह आलोचना का एक स्वतंत्र शास्त्र ही तैयार हो गया। युग उसके सर पर चढ़कर बोलने लगा। भक्ति की भीड़ में बेचारी कला खो गई। राम और कृष्ण-काव्य की टीकाओं में सिमटकर उसे रह जाना पड़ा।

पर, मंदिर के प्रांगण से निकल कर कविता जब चली, उसका मुखमंडल स्वर्गीय उल्लास से दमक रहा था। आँचल का दीप ज्यों का त्यों था—क्षीण, तटस्थ समालोचना का समुचित विकास उस युग में भी कहाँ हो पाया!

राह से भटक कर एक दिन कविता राजमहल के सिंहद्वार पर जा खड़ी हुई। द्वारपालों ने आनंद की वस्तु समझ कर उसे सम्राट् की सेवा में प्रस्तुत किया। वह देवी से विलासिनी बना डाली गई। समालोचना ने अनुसरण किया—छाया की तरह। प्रभुता ने उसे भी पराभूत कर लिया था। वह चीख उठी—कला 'कला' के लिए है। केशव ने कसौटी दी—अलंकार काव्य का आभूषण ही नहीं, आत्मा भी है। और, अलंकारों की संख्या बढ़ने लगी। रस तक को उसमें सम्मलित कर लिया गया। पर, देव, बिहारी, मतिराम आदि ने केशव की बात न मानी। रस का ही महत्त्व घोषित किया

उन्होंने। समालोचना फिर भी वहीं रही, जहाँ थी। कविता की धारा रस और अलंकार के दो कूलों में बँधकर सूख गई।

जब भारतेंदु आए, गद्य आया और गद्य के साथ-साथ नाटक, उपन्यास, कहानी, अनुवाद—सभी आ पहुँचे। जोश के साथ आलोचना बोली—"कविते! देख, तेरे आँचल में छुप-छुपकर अब और न चल सकूँगी। इन सब को भी तो प्रकाश चाहिए। अबतक तू मुझे लिए-लिए फिरी, अब जरा मैं तुझे ले चलूँ। मुझे आगे-आगे चलने दे.......।"

कविता जबतक कुछ बोले, आलोचना कूद कर आगे आ खड़ी हुई। पुरानी शास्त्रीयता को उसने झाड़कर अलग कर देने की कोशिश की। गद्य-साहित्य के विवेचन में उससे काम चल भी नहीं सकता था।

पर, उसके पैरों में अभी उतनी ताकत न आ पाई थी। आचार्य द्विवेदी ने आगे बढ़कर सहारा दिया और वह जरा तन कर खड़ी हो गई। महत्त्व वैसी रचनाओं को दिया जाने लगा, जिनमें सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान की प्रेरणा हो।

पर, परंपरा का पुराना मोह इतनी जल्दी कैसे टूट जाता? 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'हिंदी नवरत्न' में मिश्रबंधुओं ने रीतिकालीन मानदंडों का ही प्रयोग किया। देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिए उन्होंने आसमान-जमीन एक कर डाला। यह भी कदाचित् उसी आग्रह का परिणाम था।

पद्मसिंह शर्मा बिहारी के पार्श्व में आ खड़े हुए। उर्दू और संस्कृत के समानधर्मी कवियों से तुलना करते हुए उन्होंने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' तथा लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर इस तुलना को तूल दे डाला। समालोचना वकालत बन गई।

वह उस सीमा पर आ पहुँची थी, जहाँ से नई राह शुरू होती है। पर, राह बनाए कौन ?

जाड़ों के दिन थे। रात के कोई डेढ़ बजे होंगे। मिर्जापुर की रमई पट्टी के आखिरी छोर पर सुनसान में दो-चार मकान खड़े थे, जैसे काले भूत—निस्तब्ध और अवाक्। पर, एक की खिड़की से दीप का क्षीण प्रकाश अमावस्या को चुनौती दे रहा था।

सारी दुनिया सो रही थी। पंद्रह साल का एक बालक जाग रहा था। वह अब भी दीप जलाए बैठा था। चिबुक हथेली पर गड़ा था, आँखें "एसेज ऑन इमैजिनेशन" के पृष्ठों पर। तन्मय इतना कि रात कितनी जा चुकी, यह भी खबर नहीं।

पंद्रह साल का बालक, 'एसेज ऑन इमैजिनेशन' और आधी रात !—कितना विचित्र !!

पर, यह तो उसकी दिनचर्या थी। पढ़ना उसका रोग था—पढ़ना, पढ़ना और पढ़ना !! रात क्या और दिन क्या !

वह था मिर्जापुर के सदर कानूनगो का बेटा—नवीं श्रेणी का एक विद्यार्थी। नहीं, वह था हिंदी-आलोचना की नई राह का भावी युग-निर्माता।

अपने पिता के साथ राठ से मिर्जापुर चला आया था—पत्थरों के देश से वृक्षों और लताओं की दुनिया में। तब बुंदेलखंड की पहाड़ियों में घूमा करता था, अब हरे-भरे कछार, फूली-फली अमराइयाँ और नदी-नाले उसके सहचर हो उठे। जब बड़ा हुआ, उसके व्यक्तित्व में राठ और मिर्जापुर—दोनों एक साथ मुखर हो उठे। कठोर और कोमल के इस शुभ संयोग ने उसके हृदय को दृष्टि दे दी और दृष्टि को हृदय। समालोचना उसे पाकर धन्य हो उठी।

अब तक हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों का जीवन यों ही बिखरा पड़ा था। आचार्य शुक्ल ने उसे एकत्र और क्रमबद्ध कर इतिहास का रूप दे डाला। वह इतिहास कदाचित हिंदी-साहित्य का पहला प्रामाणिक इतिहास है।

भक्ति-युग हिंदी काव्य का स्वर्ण-युग था और तुलसी, सूर, कबीर, और जायसी इस स्वर्ण-युग के स्तंभ। पर, शुक्लजी न होते, तो इन महाकवियों के इतने गंभीर अध्ययन कौन प्रस्तुत करता? तुलसी और जायसी-ग्रंथावली तथा सूर के भ्रमर-गीत की भूमिका के रूप में इन कवियों के संबंध में उन्होंने जो कुछ कहा, उसके आगे शायद ही कोई नया कह सके।

चिंतामणि के सैद्धांतिक और मनोवैज्ञानिक निबंध अपना जोड़ नहीं रखते। उनमें बारीकी भी है, गहराई भी।

आचार्य शुक्ल में पूरब और पश्चिम के समीक्षा-सिद्धांतों का बड़ा ही सुखद समन्वय हो सका है। यह एक नई बात थी—एक

कदम आगे की स्थिति। उनके पद-चिह्न ही एक दिन पथ में परिणत हो गए।

पर, त्रुटियों से ऊपर कौन उठ सका है ? आचार्य शुक्ल ने राह तो नई बनाई, पर जाने-अनजाने उसकी सीमा भी निर्धारित कर दी। उनके अपने ही पिटे-पिटाए सिद्धांतों ने उन्हें जकड़ लिया। तुलसी को उन्होंने सबसे बड़ा कवि माना ; क्योंकि वर्णाश्रम धर्म और अवतारवाद में उनकी जबर्दस्त आस्था थी। कबीर आदि की सराहना उनसे न हो सकी। छायावादियों को अकारण भी उनकी सहानुभूति से वंचित रह जाना पड़ा।

इस वट-वृक्ष की छाया तले और आस-पास न जाने कितने अंकुर फूटे और विकसित हुए ; पर पथ की सीमा न विकसित हो सकी। बाबू श्यामसुंदर दास और बख्शी जी निर्विकार भाव से अँगरेजी और हिंदी के बीच सेतु तैयार करने में लगे रहे। विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल और चंद्रबली पांडेय ; 'शिलीमुख', 'रसाल' और गुलाबराय शुक्लजी वाली त्रुटियों से सतर्क होकर दामन बचा कर चले, पर चलते रहे पुराने दायरे के भीतर ही।

नई राह के निर्माण का प्रश्न एक बार फिर खड़ा हो गया। समालोचना की चिंता बढ़ गई। आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। साहित्य पुकार उठा—तमसो मा ज्योतिर्गमय ! ....हजारीप्रसाद द्विवेदी और नंददुलारे बाजपेयी आगे बढ़ आए। एक का दृष्टिकोण मानवतावादी था, दूसरे का शास्त्रीय तथा सौंदर्यवादी।

पर, दोनों ने साहित्य को व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा—शुक्लजी वाली दुर्बलताओं से ऊपर उठ कर। उनके नेतृत्व और संरक्षण में समालोचना आगे बढ़ने लगी और प्रगतिवाद के समर-क्षेत्र तक चली आई।

नगेंद्र और सत्येंद्र पास-पास चल रहे थे। रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, धर्मेंद्र ब्रह्मचारी और डा० रामखेलावन पांडेय ने शुक्लजी द्वारा उपेक्षित संतों के गंभीर मूल्यांकन प्रस्तुत किए।

शांतिप्रिय द्विवेदी छायावाद की खूबसूरती पर मुग्ध थे। तभी इलाचंद्र जोशी ने हठात् उसकी मृत्यु की घोषणा कर दी। डा० देवराज ने उसके पतन और पतन के कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया।

समालोचना आगे बढ़ कर कलावाद के दुर्ग पर टूट पड़ी। साहित्य को उसने ललकारा—'तू पूँजी का दास नहीं, नवयुग का चारण है। आगे आ! जनता के सपनों में प्राण भर दे!!...' और जोश की लहर दौड़ गई।

शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवाद की व्याख्या की, अमृतराय ने उसका नीति-निर्धारण। डा० रामविलास शर्मा ने सुरक्षा और आक्रमण की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। और, देखते-ही-देखते समालोचकों की सेना सज गई।

पर, मार्क्सवाद का इतना बड़ा बोझ घसीट ले चलना आसान न था। समालोचना हाँफ गई।

इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय और नलिनविलोचन शर्मा बोल उठे —'यह समाजवादी प्रचार साहित्य के लिए सबसे अधिक घातक है। इससे बचना चाहिए। उसका संबंध तो मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति से है। अतः मनोविश्लेषण की कसौटी ही साहित्य की बहुत कुछ ठीक कसौटी हो सकती है।'

और, दो अतियों के बीच समालोचना अनिश्चय-सी खड़ी रह गई। आज भी खड़ी है। अंधकार छाया है। राहें डूब गई हैं। साहित्य के कदम काँपते हैं। और, वह रह-रह कर पुकार रही है —तमसो मा ज्योतिर्गमय !!...

पर, प्राची के आनन पर पीताभा तो छाने लगी है !

चिंतन के पंखों पर

(निबंध)

चिंतन के पंखों पर चढ़ कर न जाने कितने प्रश्न मन के आकाश में कब से मँडला रहे थे। जब गद्य आया, उन्हें रूप मिल गया, स्थिरता मिल गई। निबंध सामने आ खड़ा हुआ।

भारतेंदु के साथ गद्य आया था, गद्य के साथ निबंध। पर, देखते-ही-देखते वह गद्य की कसौटी बन गया।

उस दिन समाज अँगड़ाई ले उठा और रूढ़ियों की शृंखला झनझना उठी। गुलामी की कब्र में सोया हुआ देश उठ बैठा। वह जागरण का युग था। व्यंग्य के बाण लेकर निबंध शत्रुओं पर टूट पड़ा। जंजीरें टूटतीं-टूटती बचीं। उसने युग के प्रश्नों का विश्लेषण भी किया, समाधान भी। पर, सबसे बड़ी बात थी उसकी जिंदादिली, जो भाषा और शैली तक में व्याप्त हो उठी।

भारतेंदु के अतिरिक्त इन प्रवृत्तियों को रूप देनेवाले निबंधकार थे प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त; अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी और प्रेमघन। इनके हाथों ही तो निबंध की नींव पड़ी थी।

बीसवीं शताब्दी के साथ एक नई लहर आई। आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा पाकर निबंध की परिधि विस्तृत हो उठी। धर्म, समाज और देश के अतिरिक्त उसमें संसार के ज्ञान और विज्ञान तक

सिमट आए। पर, यह विस्तार मरुभूमि का शुष्क विस्तार था, जिसके संकेत में भारतेंदु-युग की रस-धारा सूख कर समाप्त हो गई। वह जोश नहीं! वह जिंदादिली नहीं!! कुछ ओएसिस फिर भी हैं, जो थके बटोही को बरबस आकृष्ट कर लेते हैं—गुलेरी और पूर्ण सिंह; पद्मसिंह शर्मा और ब्रजनंदन सहाय। इनमें भावना की हरीतिमा है, भाषा की खूबसूरती भी।

विकास की तीसरी मंजिल तक आते-आते निबंध दो रूपों में विभक्त हो चला। पांडित्य के शिखर पर चढ़ कर वह वस्तुनिष्ठ हो उठा, हृदय के रस में भींग कर आत्मनिष्ठ।

आचार्य शुक्ल, श्यामसुंदर दास और मिश्रबंधु; धीरेंद्र वर्मा, गुलाबराय और बख्शी—ये निबंधकार प्रायः विषय के बौद्धिक विवेचन को ही प्रधानता देकर चले। नंददुलारे बाजपेयी, नगेंद्र और अज्ञेय; रामविलास शर्मा और प्रभाकर माचवे—इन परवर्ती निबंधकारों का दृष्टिकोण भी वस्तुनिष्ठ ही रहा। पर, उनके चिंतन में बारीकी चाहे जितनी हो, मिठास नहीं।

मिठास है निबंध के उस रूप में जिसे हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र, महादेवी और सियारामशरण ने हृदय की भावुकता और सुकुमारता से सँवारा है। उनके निबंधों में उनके व्यक्तित्व मुखर हो उठे हैं और यही है कला के इस रूप की सार्थकता।

शुष्क चिंतन के पंखों से उतर कर निबंध आज अंतर की गहराई में पैठ रहा है, यह शुभ लक्षण है।

आधुनिक युग : एक झलक

* **आरंभ**—१६ वीं शताब्दी से···

* **परिस्थितियाँ :—**

देश के भीतर :—अँगरेजी शासन—गाँधी के नेतृत्व में सन् बीस का आंदोलन, सन् बियालीस की अगस्त-क्रांति और ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति—बंगाल का अकाल—देश की स्वतंत्रता पर काँग्रेसी सरकार के प्रति भी जनता में असंतोष।

देश के बाहर :—प्रथम और द्वितीय महायुद्ध—भीषण रक्तपात। विज्ञान के चमत्कार। रूस और चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना।

* **आधुनिक युग के अंतर्गत निम्नलिखित युग आते हैं—**

  १. **भारतेंदु-युग— १८६८ से १६०० तक**
  २. **द्विवेदी-युग— १६०१ से '२० तक**
  ३. **छायावाद-युग—१६२० से '३६ तक**
  ४. **प्रगतिवाद-युग—१६३६—से·······**

प्रथम दो युगों में देश-प्रेम, समाज-सेवा और नैतिकता की प्रधानता रही, भाषा के संस्कार का प्रयास किया गया। छायावाद-युग का साहित्य वैयक्तिकता से भरपूर ; कल्पना और भावुकता, नारी और प्रकृति की सूक्ष्म सुंदरताओं में निमग्न। प्रगतिवाद युग में साहित्य एक बार

फिर देश, समाज और जन-कल्याण की दिशा में गतिशील—यथार्थ और विद्रोह का स्वर।

* बहुमुखी विकास :—
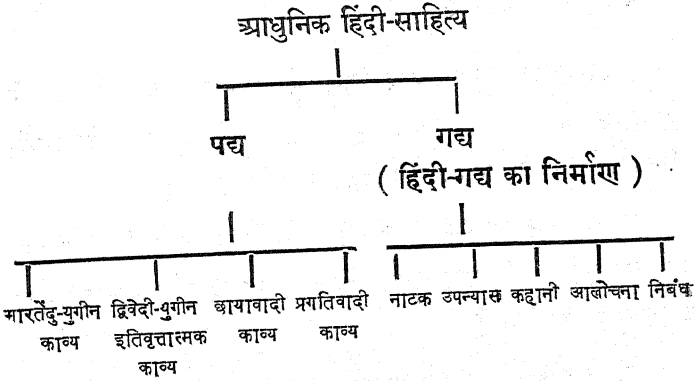
* **भाषा**—गद्य और पद्य, दोनों के लिए खड़ी बोली का प्रयोग। भारतेंदु और आचार्य द्विवेदी के हाथों भाषा का संस्कार। छायावादी कवियों ने उसमें कोमलता और मधुरिमा भर दी, प्रगतिवादियों ने सशक्तता।

प्रेमचंद, जैनेंद्र, बेनीपुरी और महादेवी-जैसे लेखकों ने गद्य का परिमार्जन किया।

* इतने कम समय में ऐसी प्रगति विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य में कम ही हो पाई है। बाढ़ में काई और सेवार भी बह कर आ रहे हैं, पर यह तो विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

प्रगतिशीलता इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है।

कारवाँ चल रहा है

विश्व-साहित्य के राज-पथ जिस क्षितिज-रेखा पर विश्राम ले रहे हैं, उसके पार भी दुनिया है। आज वहाँ से मनुष्य के सबसे मीठे सपने उसे पुकार रहे हैं। हिंदी व्यग्र हो उठी है।

आसमान में तीसरे महायुद्ध की काली घटा छाई है। जमीन पर जन-क्रांति की आग सुलग रही है। मनुष्य और उसका संसार ज्वालामुखी पर बैठा है।

पर, ज्वालामुखी फट पड़े, इसके पहले हिंदी को वहाँ पहुँचना है। वह मनुष्य को उसका आदर्श, उसके सबसे मीठे सपने अगर वापिस ला दे सकी, तो शायद उसकी रक्षा हो जायगी।

सर पर काटों का ताज, आँखों में विश्वास का तेज और हाथ में जलती हुई मशाल—हिंदी के पाँव जल्दी-जल्दी उठ रहे हैं। आज उस पर अपने राष्ट्र ही नहीं, संपूर्ण संसार के कल्याण का दायित्व है; क्योंकि वह भारत की राष्ट्रभाषा है।

हिंदी चल रही है—कलाकारों का कारवाँ चल रहा है—कवियों के दल, कथाकारों की टुकड़ियाँ, आलोचकों के दस्ते! आगे-आगे बुजुर्ग, पीछे-पीछे नवजवान और किशोर!

विज्ञान और वाणिज्य ने दुनिया की तसवीर बदल दी। मनुष्य बदला। भाव और विचार बदले। जिंदगी बदल गई। पर, बदली हुई बातों का बोझ बड़ा भारी है। बूढ़े शब्दों और जर्जर छंदों के दुर्बल कंधे उन्हें ढो नहीं पाते। उनमें यौवन भर देने की जरूरत है। उनमें नई ताकत, नए अर्थ जगा देने के लिए प्रयोग किए जा रहे हैं। नहीं, वे मनुष्य के सपनों को बाँध कैसे सकेंगे ?

प्रयोग करनेवाले कवियों की कतार चल रही है। कतार के आगे-आगे जो चल रहा है, वह है अज्ञेय। चरण-चिह्नों पर चलने-वालों की संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है।

पर, यह तो पथ का प्रारंभ है।

इस कतार के पास-पास ही कवियों की एक दूसरी कतार भी चल रही है—उगते पौधे, नए पत्ते ! उसमें कुछ फूल हैं, कुछ कलियाँ। ये कलियाँ भी कल फूल बन जायँगी।

और, वह रहा कथाकारों का दस्ता—उपन्यास की ध्वजा, कहानी की पताकाएँ। कितना जोश ! कैसी उमंग !! भीड़ में सूरतें ठीक से पहचानी नहीं जा रहीं।

पर, वह नाटक-मंडली क्यों उदास है ? उसे जरा तेज चलना चाहिए। कितना लंबा पथ फैला है सामने !

आज तो पनघट के गीत अँगड़ाई ले रहे हैं। हीरा और राँझा की कहानियाँ जाग रही हैं। तुलसी-चौरे पर सिसक-सिसक कर दीप

जलानेवाली ग्राम-वधू की मर्म-कथा मुखर हो रही है।·······हाँ, आज नवजागरण के इस मंगल-पर्व में लोक-साहित्य की भी उपेक्षा न होनी चाहिए। जरा आगे आ जाने दीजिए उसे।

पर, उधर किनारे-किनारे जो एक यूथ चल रहा है; छोटा है, महत्त्वपूर्ण कम नहीं। उसके विद्वान् अनुवादकों ने विदेशी और प्रादेशिक साहित्यों से सामग्रियाँ ला-लाकर हिंदी को स्वास्थ्य प्रदान किया है। पर, हिंदी से भी सामग्रियाँ दूसरी भाषाओं में जानी चाहिए। इससे पारस्परिक स्नेह-सौहार्द्र बढ़ेगा। प्रगति का पथ प्रशस्त होगा।

हिंदी अब राष्ट्र की भाषा है। उसका दायित्व बढ़ गया है। उसकी परिधि भी तो बढ़ती जा रही है। संसार के सारे ज्ञान-विज्ञान उसकी बाँहों में सिमटते चले आ रहे हैं। राष्ट्रभाषा समर्थ और समृद्ध होती जा रही है।

बाल-साहित्य और पत्र-साहित्य से लेकर संगीत, नृत्य और चित्र-संबंधी साहित्य तक—क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक—आज ज्वार-सा उठा है। साधकों की टोलियाँ उमड़ती चली आ रही हैं।

और, इन छोटी-बड़ी टोलियों को घेर कर किनारे-किनारे कुछ कतारें चल रही हैं—रोशनी की कतारें! आलोचना की मशालें जल रही हैं। अंधकार पराजित हो-होकर भाग रहा है।

पथ की दूरी सिमट-सिमटकर पैरों के नीचे चली आ रही है। कदम काँपते हैं, लड़खड़ाते हैं, पर विश्राम नहीं लेते। छूटनेवाले पीछे छूट गए, छूट रहे हैं। बढ़ सकनेवाले आगे बढ़ गए, बढ़े जा रहे हैं। राह की भेंट कुछ होते ही हैं! पर, कुछ तो सितारों के आगे जो 'जहाँ' है, वहाँ तक पहुँचेंगे—जरूर पहुँचेंगे।

× × × लीजिए, वह देखिए····वह रही मंजिल! दूर, बहुत दूर····वहाँ····अंधकार के अनंत विस्तार में वह जो नन्हा-सा प्रकाश-विंदु झलमल कर रहा है!!!

*

सहायक ग्रंथ

१. हिंदी सा० का इतिहास
—रा० च० शुक्ल

२. हिंदी सा० का आलो० इतिहास
—डा० रा० कु० वर्मा

३. हिंदी सा० की भूमिका
—ह० प्र० द्विवेदी

४. हिंदी-साहित्य
—ह० प्र० द्विवेदी

५. आधुनिक हिंदी सा० की भूमिका
—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

६. हिंदी सा० का आदिकाल
—डा० ह० प्र० द्विवेदी

७. आधुनिक हिं० सा० का विकास
—डा० कृष्णलाल

८. फोर्टविलियम कालेज
—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

९. हिंदी सा०—बीसवीं शताब्दी
—नंददुलारे बाजपेयी

१०. आधुनिक साहित्य
—नंददुलारे बाजपेयी

११. डिंगल के वीर रस
—मोतीलाल मेनारिया

१२. उत्तरी भारत की संत-परंपरा
—परशुराम चतुर्वेदी

१३. कबीर
—डा० ह० प्र० द्विवेदी

१४. कबीर सा० का अध्ययन
—श्री पुरुषोत्तम

१५. (क) हिंदी काव्यधारा
—श्री राहुल

(ख) निर्माण धारा
—विश्वनाथ : बैजनाथ

१६. कबीर का रहस्यवाद
—डा० रा० कु० वर्मा

१७. (क) कबीर ग्रंथावली
—बा० श्या० सु० दा०

(ख) संत-दर्शन
—श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'

१८. नाथ संप्रदाय
—डा० ह० प्र० द्विवेदी

१९. जैन सा० और इतिहास
—नाथूराम प्रेमी

२०. जायसी ग्रंथावली
—रा० चं० शुक्ल

२०. मलिक मुहम्मद जायसी
—डा० कमलकुल श्रेष्ठ

२१. तसव्वुफ़ अथवा सूफीमत
—चंद्रबली पांडेय

२२. ब्रजमाधुरी सार
—श्री वियोगी हरि

२३. सूरदास
—रा० चं० शुक्ल

२४. मीरा-माधुरी
—ब्रजरत्नदास

२५. मीरा स्मृति-ग्रंथ
—बंगीय हिंदी-परिषद्

२६ नंद दास
—रामरतन भटनागर

२७ तुलसी-ग्रंथावली
—डा० माताप्रसाद गुप्त

२८. तुलसीदास
—डा० माताप्रसाद गुप्त

२६. तुलसीदास और उनका काव्य
—रामनरेश त्रिपाठी

३०. तुलसी-दर्शन
—बलदेव उपाध्याय

३१. रीति-काल की भूमिका
—डा० नगेंद्र

३२. देव और उनकी दीनता
—डा० नगेंद्र

३३. बिहारी की काव्य-विभूति
—विश्वनाथ प्र० मिश्र

३४ केशव की काव्य-कला
—कृष्णशंकर शुक्ल

३५. पद्माकर पंचामृत
—विश्वनाथ प्रसाद

३६. भारतेंदु ग्रंथावली
—ब्रजरत्नदास

३७. भारतेंदु-युग
—डा० रामविलास शर्मा

३८. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग
—डा० उदयभानु सिंह

३६ गुप्तजी की काव्य-धारा
—गिरीश

४०. कथाकार प्रेमचंद
—मनमथनाथ गुप्त

४१. प्रेमचंद
—इंद्रनाथ मदान

४२. प्रेमचंद और उनका युग
—डा० रामविलास

४३. प्रेमचंद : कृतियाँ और कला
—प्रेमनारायण टंडन

४४. प्रेमचंद : घर में
—शिवरानी

४५. जीवन-स्मृतियाँ
—सुमन

४६. छायावाद और रहस्यवाद
—गंगा प्र० पांडेय

४७. छायावाद—प्रगतिवाद
—पटना युनिवर्सिटी प्रकाशन

४८. प्रगतिवाद की रूपरेखा
—मन्मथनाथ गुप्त

४६. प्रसादजी की कला
—गुलाबराय

५०. प्रसाद का काव्य
—डा० प्रेमशंकर

५१. जयशंकर प्रसाद—जीवन-दर्शन, कला और इतिहास
—सं० महावीर अधिकारी

५२. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
—जगन्नाथ प्र० शर्मा

५३. महाप्राण 'निराला'
—गंगा प्र० पांडेय

५४. 'निराला'
—डा० रामविलास शर्मा

५५. क्रांतकारी कवि 'निराला'
—बच्चन सिंह

५६. महादेवी
—विश्वंभर 'मानव'

५७. सुमित्रानंदन पंत
—डा० नगेंद्र

५८. पंत का युग और काव्य
—यशदेव

५६. ज्योति-विहग
—शांतिप्रिय द्विवेदी

६०. आलोचक रा० चं० शुक्ल
—विजयेंद्र स्नातक, गुलाबराय

६१. सिद्धांत और अध्ययन
—गुलाबराय

६२. मिट्टी की ओर
—'दिनकर'

६३. 'दिनकर'
—शिवबालक राय

६४. 'दिनकर' : उनकी काव्य-कृतियाँ और कला
सं०—प्रो० कपिल

६५. हिंदी गद्य-साहित्य
—शिवदान सिंह चौहान

—※—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ ४२ (तलवार की छाया में)—'खिसकने' की जगह 'घसकने'।

" ६८ (रीति-काल) —"साँझ का सूरज" की जगह "चंचल मीन"।

" १०८ (") —"प्रेम के पथ पर चलते हुए···· धावनो है" के स्थान पर निम्नलिखित एक पंक्ति :— छोटी-बड़ी लहरों से ही तो सागर का निर्माण होता है।

" ११८ (जब चाँद उग आया)—'अतिरंजना' की जगह मात्र "अति"।